Chap-3

तृतीय अध्याय

नयी कविता में ग्राम्य–बोध का स्वरूप एवं उसके विविध आयाम

(क) लोकजीवन एवं लोक संवेदना

(ख) नयी कविता में ग्राम्य–बोध एवं ग्राम्य–संस्कृति

(ग) नयी कविता में ग्राम्य–बोध के विविध आयाम

- (i) राजनीतिक
- (ii) सामाजिक
- (iii) धार्मिक
- (iv) आर्थिक
- (v) सांस्कृतिक

तृतीय अध्याय

नयी कविता में ग्राम्य-बोध का स्वरूप एवं उसके विविध आयाम

नयी कविता मानवीय साक्षात्कार की कविता है। मानवीय सम्बन्धों और स्थितियों का जैसा जीवन्त चित्रण नयी कविता में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जिस मनुष्य का चित्रण नयी कविता में हुआ है वह हमारे आस–पास का इसी लोक का साधारण मनुष्य है। ग्राम्य–परिवेश और यहाँ के जन–जीवन में व्याप्त वे समस्त रूढ़ियाँ, परम्परायें, संस्कार, धार्मिक विश्वास उसमें रचे–बसे हैं जो अनादि काल से हमारी सामासिक संस्कृति का हिस्सा रहे हैं। नयी कविता सिर्फ महानगर बोध से ही जुड़ी हुई कविता नहीं है बल्कि उसमें हमारा ग्राम्य–जीवन वहाँ की जलवायु, प्रकृति, तीज–त्यौहार, लोकगीत, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, भाषागत विकृतियाँ, लोगों की स्वभावगत विशेषताऐं, रोमांस,नैतिक मान्यताऐं पूरी सशक्तता के साथ चित्रित हुए हैं। नयी कविता में तत्कालीन ग्राम्य–परिवेश, वहाँ की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का समग्रता में उद्‌घाटन हुआ है।

(क) लोक जीवन एवं लोक संवेदना :

''लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकृ दर्शने' धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ 'देखना' होता है, जिसका लट् लकार में अन्य पुरूष एक बचन का रूप 'लोकते' है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला। इस प्रकार वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है ' लोक' कहलायेगा। ' लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। साधारण जनता के अर्थ में इसका प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है। ऋग्वेद में लोक के लिए 'जन' का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।''[1]

---

1. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ०–9

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरूष सूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों अर्थो में किया गया है। यथा–

"नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिदशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्।।"[1]

'लोक' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता में भी अनेक स्थानों पर हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी 'लोक' पर बहुत बल दिया है। एक श्लोक में वे अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं–

"लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानद्य।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।"[2]

प्रामाणिक हिन्दी कोश के अनुसार 'लोक'का अर्थ– "लोक पुं0 (सं0) (1.) ऐसा स्थान जिसका बोध प्राणी को हो अथवा जिसकी उसने कल्पना की हो, जैसे–इहलोक, परलोक। (2) पृथ्वी के ऊपर–नीचे के कुछ विशिष्ट कल्पित स्थान, भुवन (3) संसार, जगत। (4) लोग, जन (5) सारा समाज, जनता।"[3] आदि है।

लोक के लिए अंग्रेजी में "फोक" (Folk) शब्द का प्रयोग किया जाता है। डॉ0 सत्येन्द्र ने 'लोक' की व्याख्या इस प्रकार से की है– "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[4] लोक शब्द का व्यापकता को कुछ यूँ समझा जा सकता है– " लोक शब्द अत्यन्त व्यापक और सम है, यह ब्रह्म की ही तरह अनंत अक्षर और असीम है, जीवन का प्रतीक और जन का पर्याय है। "लोक" की सीमा केवल ग्राम या साधारण जनता तक ही नहीं है, ऐसा संकीर्ण अर्थ तो बहुत बड़ी साहित्यिक ही

---

1. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ०–9
2. कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए०सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद, श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप (3/3), पृ०–138
3. सम्पादक– आचार्य रामचन्द्र वर्मा, प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ०–738
4. बसन्त निरगुणे, लोक संस्कृति, पृ०–31

नहीं, सामाजिक और सास्कृतिक भूल का द्योतक है, समस्त चराचर मात्र में ''लोक'' की समीचीन अलंकृति ही परम उपादेय और मांगलिक है।''[1]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के सम्बन्ध में अपने विचार कुछ इस प्रकार प्रकट किये हैं–''लोक' शब्द का अर्थ 'जन–पद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुऐं आवश्यक होती हैं उनकों उत्पन्न करते हैं।''[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक की व्याख्या बहुत व्यापक है, वह असीम है चिरन्तन है। डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक' को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है– ''आधुनिक सभ्यता से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली, तथाकथित अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को 'लोक'कहते हैं जिनका आचार–विचार एवं जीवन परम्परायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।''[3] इससे स्पष्टतया यह ज्ञात होता है कि जो लोग आधुनिक ज्ञान–विज्ञान एवं यान्त्रिक विकास के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है।

मनुष्य के हर विकास क्रम में जीवन गतिशील रहा है। जीवन में उद्विकास की प्रतिपल सम्भावना रहती है। आदिम युग से आज तक जीवन विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरा है। विकास की इस लम्बी यात्रा में प्रकृति उसकी सहभागी रही है। मानव और प्रकृति के अन्तः सम्बन्धों के आधार पर ही विभिन्न प्रकार की रूढ़ियाँ, परम्परायें, रीति–रिवाज बनते–बिगड़ते रहे हैं। मनुष्य की जिजीविषा ने उसे कठिन से कठिन परिस्थितियों में जी लेने की कला

1. बसन्त निरगुणे, लोक संस्कृति, पृ० 35–36
2. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ०–11
3. वही, पृ०–11

सिखाई। प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर मानव द्वारा सहज, स्वाभाविक रूप में जीवन–यापन को हम लोक जीवन की संज्ञा दे सकते हैं। लोक जीवन का सम्बन्ध परम्परागत ग्राम्य जीवन से अटूट है। अभिजात्य नगरीय संस्कृति से उसकी भिन्नता उसकी प्रमुख पहचान है। आधुनिक सभ्यता से कोशों दूर रहने वाला यह 'लोक' और यहाँ का जीवन भौतिक या वैज्ञानिक प्रगति को महत्व नहीं देता तथा अतीत के प्रति पूर्ण निष्ठा इसकी प्रमुख विशेषता है सुदूर ग्रामीण अंचल में रहकर आदिम विश्वासों के सहारे जीने वाला असभ्य एवं अशिक्षित मानव समुदाय ही लोक है।

लोक जीवन एवं लोक संवेदना का सच्चा तथा स्वभाविक चित्रण लोक साहित्य में मिलता है। लोक जीवन के वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए हमें लोक साहित्य का अनुशीलन करना होगा। पारिवारिक जीवन के जो हृदयस्पर्शी दृश्य यहाँ उपलब्ध हैं अन्यत्र दुर्लभ हैं। लोक–साहित्य में मानवीय सम्बन्धों के उभय पक्षों सुन्दर–असुन्दर, मधुर–तिक्त सभी को सहज एवं स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियाँ भी यथार्थ रूप में चित्रित हुई हैं। संयुक्त परिवार का आदर्श उदाहरण जहाँ पिता–पुत्र, माता–पुत्री, भाई–बहन, सास–बहू, पति–पत्नी के आदर्श प्रेम की झाँकी हमें लोक–गीतों में देखने को मिलती है।लोक–गीतों में आदर्श सती स्त्रियों का जैसा चित्रण पाया जाता है, वैसा संसार के अन्य साहित्य में मिलना बड़ा कुश्किल है। इसलिए लोक गीतों के बारे में कहा गया है– 'लोकगीत धरती के गीत हैं, ये जीवन के गीत हैं, ये विजय के गीत हैं, ये मंगल के गीत हैं और ये हमारी आशा के गीत हैं। जनता के द्वारा रचे गये, जनता के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले, ये गीत जनता की ही सम्पत्ति हैं इसी कारण सुप्रसिद्ध विद्वान ग्रिम ने लोकगीतों की परिभाषा बतलाते हुए इसे जनता का, जनता के लिए रचा गया जन काव्य कहा है।[1]

---

1. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ०–274

लोकगीतों में शिष्ट साहित्यिक काव्य–जैसी रचनागत विशिष्टता भले ही न हो किन्तु इनके मूल में लोक जीवन एवं लोक संवेदना का उच्छल स्रोत दिखायी पड़ता है। इनमें जनजातीय सामूहिक जीवन की भाव–प्रवणता, राग–धर्मिता तथा कल्पनाशीलता सहज सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। हमारी ग्राम–संस्कृति इन्हीं उच्च मानवीय आदर्शों के सहारे सहस्रों वर्षों से अक्षुण्ण रीति से विकासमान है।

(ख) नयी कविता में ग्राम्य–बोध एवं ग्राम्य–संस्कृति :

नयी कविता को अधिकांशतः महानगरीय बोध से जुड़ी हुई कविता कह दिया जाता है, जो नयी कविता के प्रति समीक्षकों के एकांगी एवं सीमित दृष्टिकोण का परिणाम है। नयी कविता में ग्राम्य–चेतना का सुस्पष्ट संस्पर्श हमें यह स्वीकारने को बाध्य करता है कि इस कविता का संवेदन स्तर मात्र महानगरीय जीवन की विभीषिकाओं से ही जुड़ा हुआ नहीं है और न ही यह कविता अनास्था, आतंक, आक्रोश, ऊब, नैराश्य, कुण्ठा, वेदना और व्यर्थता बोध के गर्भ से जन्मी है। नयी कविता में जहाँ–जहाँ ग्राम्य–परिवेश एवं वहाँ के जीवन से जुड़े विशिष्ट संदर्भ हैं, वहाँ–वहाँ उसमें धरती की सुवासित गंध है, ग्रामीण–जीवन के हर्षोल्लास की विलक्षण भाव भंगिमाएँ हैं, स्थानीय रंगों में उकेरे आकर्षक प्राकृतिक दृश्य हैं। लोक धुनों की झंकार से जन्मा सम्मोहक संगीत है। ग्राम्य जीवन से जुड़े शब्दों के अनगढ़ प्रयोगों का सौंदर्य है। नयी कविता में ग्राम्य–जीवन से जुड़े ऐसे संदर्भो की पर्याप्त मात्रा मौजूद है जो रमणीय प्राकृतिक छवियों और ग्रामीण परिवेश को पूरी जीवन्तता के साथ चित्रित करते है।

नयी कविता के कुछ कवियों में गाँव अतीत की स्मृतियों के रूप में जीवित है,तो कुछ में जीवन और रचना दानों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ हैं। डॉ0 राम विलास शर्मा ग्राम्य चेतना से जुड़े हुए कवि हैं। उनकी कविताओं मे ग्रामीण परिवेश का बहुत प्रभावशाली वर्णन हुआ है। ग्राम्य–जीवन से अपने लगाव को उन्होंने तार सप्तक के वक्तव्य मे कुछ यूँ व्यक्त किया है– "बचपन गाँव के खेतों में बीता है और वह सम्पर्क कभी नहीं छूटा। इस समय भी

खिड़की के बाहर खेत दिखायी रे रहा है जिसमें कटी हुई ज्वार के ठूँठ ही रह गये हैं। सुनहली धूप में कबूतर दाने चुग रहे हैं और थोड़ी दूर पर नहर का पुल पार करके किसान सिर पर बाजार के सामान का गठ्ठर रखे घर लौट रहे हैं मैं साधरणतः छः घण्टे काम करूँ तो खेतों के बीच में रहकर दस घण्टे कर सकता हूँ।''[1] राम विलास शर्मा जी ने अपने ग्रामीण संस्कारों के कारण गाँवों के प्राकृतिक सौंदर्य और सामाजिक जीवन पर जो कतिताऐं लिखी हैं वे अनुभूति की ईमानदारी के कारण अत्यन्त मार्मिक हैं उनकी कविताऐं ग्रामीण जीवन का पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित कर देती हैं।

लोकोन्मुखता नयी कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है।'' लोक का मानव जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। 'लोक' एक उर्वर धरती के समान है जहाँ स्वस्थ्य परम्पराओं, रूढ़ियों, एवं विश्वासों की हरीतिमा पायी जाती है। लोक का रिश्ता परम्परागत ग्राम्य–जीवन से अटूट है। प्रगतिवादी कवियों ने अपने दृष्टिकोण से लोक–जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया है, किन्तु नयी कविता ने लोक जीवन एवं ग्राम्य परिवेश की अनुभूति, प्रकृति, सौन्दर्य बोध और वहाँ के ठेठ जीवन की जटिलता को सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया है। प्रतीक बिम्ब भी सामान्य जन–जीवन से चुनकर प्रयुक्त किये गये हैं नयी कविता के एक प्रमुख कवि केदारनाथ सिंह ग्राम्य–जीवन से अपने लगाव को तीसरा सप्तक के वक्तव्य में कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं–''मेरा घर गंगा और घाघरा के बीच में है घर के ठीक सामने एक छोटा–सा नाला है जो दोनों को मिलाता है। मेरे भीतर भी कहीं गंगा और घाघरा की लहरें बराबर टकराती रहती है खुले कछार, मक्का के खेत और दूर–दूर तक फैली पगडण्डियों की छाप आज भी मेरे मन पर उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस दिन थी, जब मैं पहली बार देहात के ठेठ वातावरण से शहर के धुमैले और शतशः खण्डित

1. सम्पादक– अज्ञेय, तार सप्तक, पृ०–189

आकाश के नीचे आया।"[1] अपने गाँव और प्रकृति के प्रति केदार जी का गहराअनुराग ही है जो उन्हें ये पंक्तियाँ लिखने पर मजबूर कर देता है—

"मेरे गाँव को चीरती हुई
पहले आदमी से भी बहुत पहले से
चुपचाप बह रही है वह पतली—सी नदी
जिसका कोई नाम नहीं!
तुमने कभी देखा है
कैसी लगती है बिना नाम की नदी?
कीचड़ सिवार और जलकुम्भियों से भरी
वह इसी तरह बह रही है पिछले कई सौ सालों से
मेरे गाँव की नदी'[2]

संस्कृति मानवकृत रचना है जिसमें मनुष्य की सम्पूर्ण सृजनात्मक क्षमता निहित रहती है। संस्कृति जीवन और उसकी क्रिया—प्रतिक्रियाओं का संचय है। यह मनुष्य को जीवन जीने की उच्च भावभूमि प्रदान करती है। संस्कृति मनुष्य की सम्यक कृति है अर्थात् विचार का, चरित्र का, आचरण का, अभिव्यक्ति का काव्य का, संगीत और कला का समाज और देश का तथा विश्व का जो कुछ भी चरम हो वह सभी कुछ संस्कृति के अन्तर्गत आता है। ग्राम्य—संस्कृति वास्तव में जनसंस्कृति है, इसे हम लोक' के पर्याय के रूप में देख सकते हैं गाँवों में आज भी किसानों मजदूरों या सामान्य लोगों के लिए जन या मनई (मानव) शब्द का प्रयोग होता है। लोक या ग्राम्य संस्कृति का उद्भव एवं विकास मानव इतिहास के शुरूआती दौर में कृषि युग में ही आरम्भ हो गया था। प्रकृति और मानव के बीच घनिष्ट रिश्ते रहे, सम्पूर्ण जन—जीवन प्रकृति पर निर्भर रहता था। उसने प्रकृति के कोण में पर्वतीय क्षेत्रों, वनस्थलियों, नदी तटों और मैदानों में रहकर जीवन जीने की कला सीखी।झरनों, वर्षा की बूँदों, इन्द्रधनुषी रंगों और पंछियों के कलरव में उसने जीवन संगीत का अनुभव किया प्रकृति की अदम्य शक्ति में भी उसकी आस्था जागी। प्रकृति में दैवीय भाव का अनुभव करते हुए

1. सम्पादक— अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृ०—114
2. सम्पादक— परमानन्द श्रीवास्तव, केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 25—26

उसने प्राकृतिक शक्तियों की उपासना आरम्भ कर दी। प्राकृतिक शक्तियों के प्रति यही पूजा भाव अनादि काल से लेकर आज तक अनवरत जारी है। विराट प्रकृति के प्रति कुछ ऐसा ही जिज्ञासा भाव कुछ ऐसी ही पूजा भावना एवं उत्सवधर्मी चेतना की अभिव्यक्ति हमें नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षर श्री नरेश मेहता की कविताओं में देखने को मिलती है। उनकी एक कविता 'उत्सव–नक्षत्र' की कुछ पंक्तियाँ दृश्टव्य हैं–

"कहाँ है?
अन्यत्र कहाँ है??
इस पृथ्वी से बड़ा उत्सव–नक्षत्र और कहाँ है???
गायत्री वर्ण वाली उज्ज्वल दिशाओं के, वेद
ओषधियों के आगार–अरण्यों के, उपनिषद
ऊर्ध्व–रेतस वाले पर्वतों के, शतपथ ब्राह्मण
सर्वगम्या, सर्वसुलभा नदियों की, संहिताएँ
एकाग्रमनस ब्रह्मचारियों जैसे प्रपातों के, स्तोत्र
सामयिक चारणों जैसी मेघों की, स्तुतियाँ
श्वेत–केश वाले सन्यासी–समय के, पुराण
हस्तामलकवत निद्राजयी समुद्रों के, भाष्य
और हरीद्र दूर्वांकुरों जैसी आकुल, मानवीय प्रार्थनाएँ [1]

ग्राम्य जीवन ने जन्म से लेकर देहावसान तक अपनी आत्मीयता, सदाशयता, सहभागिता तथा उत्सवधर्मिता एवं शोक को व्यक्त कर अपनी संस्कृति की जीवन्तता को अक्षुण्ण रखा है। आज के औद्योगिक एवं महानगरीय संस्कृति के दौर में संवेदनशीलता एवं पारस्परिक सम्मान भावना दुर्लभ होती जा रही है। ग्राम्य संस्कृति पारस्परिक भाई–चारे को बढ़ावा देती है जिससे पारिवारिक सम्बन्ध मजबूत होते हैं और सामाजिकता की भावना का विकास होता है उसकी उत्सवधर्मिता, मानवीय सम्बन्धों में प्रगाढ़ता लाती है। नयी कविता के प्रमुख कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आर्थिक रूप से विपन्न किन्तु सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न ऐसे ही एक गाँव का दृश्य दिखाना चाहते हैं जो यान्त्रिक विकास के इस दौर में अब स्मृति शेष है–

---

1. श्री नरेश मेहता, उत्सवा, पृ०–95

"एक तालाब था
जिसके किनारे इमली के बड़े–बड़े पेड़ थे
फिर एक मन्दिर और खेत–ही–खेत,
बीन बजती थी
तो साँप–सा नसों में कुछ रेंगने लगता था
और झाँझ हुडुक–दाहिदा–दाहिदा....
दिशाएँ गूँजती थीं।
चारों ओर से लोग
लपकते हुए आते थे
और इस पेड़ की रोशनी में
रंग–बिरंगे हिरनों की तरह बैठ जाते थे।
अब वहाँ यह सब कुछ नहीं है
फिर भी मैं तुम्हें अपने गाँव का
सपेरा दिखाना चाहता हूँ।"[1]

नयी कविता में ग्राम्य–बोध लोकगीतों, लोककथाओं एवं लोक विश्वासों तथा ग्राम्याँचलों के परिवेश चित्रण में भी सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है। भवानी प्रसाद मिश्र ने सतपुड़ा के घने जंगलों के भयावह परिवेश का अंकन करते हुए वहाँ की परिस्थितियों का जीवन्त चित्रण किया है–

"झाड़ ऊँचें और नीचे
चुप खड़े हैं आँख मीचे,
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है।
बन सके तो धँसों इनमें,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।"[2]

मुक्तिबोध नयी कविता के एक सशक्त कवि के रूप में जाने जाते हैं उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे शहरी निम्न मध्यवर्गीय परिवेश के कवि हैं और उनकी कविता में किसान नहीं हैं। लेकिन 'सच्चाई यह है कि शहरी होते हुए भी उनका मन किसानों से मिला हुआ है और वह गाँव का चक्कर लगाता

---

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ०–145
2. सम्पादक, अज्ञेय, दूसरा सप्तक, पृ०–23

रहता है। स्वभावतः अपनी कविताओं में उन्होंने किसानों की समस्याएँ ही नही उठाई हैं, ग्रामीण जीवन से ढेर सारा उपादन ग्रहण कर उनमें गीतात्मक संवेदना का संचार किया है।[1] मुक्तिबोध की 'इसी बैलगाड़ी को' शीर्षक कविता में किसान रास्ते में एक ओर कंडे की लाल आग पर टिक्कड़ सेंकते हैं और उसकी प्रगाढ़ सुगंध आत्मा में ईमान की भाप बनकर फैल जाती है। कविता की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं–

"पहाड़ी चढ़ान की
अंधेरी ऊँचाई पर
घुंघरू बजाते हुए बढ़ते हैं
बढ़ते अटक–अटक
थके हुए बैल ये हमारे"[2]

नयी कविता के कवियों ने जहाँ एक तरफ महानगरीय जीवन के त्रास, ऊब, निराशा एवं ह्रासित होते मानवीय सम्बन्धों को अपनी कविताओं में चित्रित किया है वही दूसरी तरफ ग्राम्य परिवेश, वहाँ की प्रकृति तथा सांस्कृतिक समृद्धि का अंकन करके अपनी शूक्ष्मदर्शी रचनादृष्टि और गहरी संवेदनशीलता का परिचय दिया है। यह रचना दृष्टि ग्राम्य जीवन के प्रति कवियों के लगाव की परिचायक है जो निश्चय ही जीवन और मानवीय मूल्यों के प्रति हमें आस्थावान बनाती है।

(ग) नयी कविता में ग्राम्य–बोध के विविध आयाम :

नयी कविता ने ग्राम्य जीवन का चित्रण सिर्फ सतही तौर पर ही नहीं किया है बल्कि वहाॅ के प्राकृतिक परिवेश और माटी से जुड़कर संवेदना ग्रहण की है। नयी कविता के कवि ग्रामीण परिवेश और वहाँ के जीवन के सिर्फ द्रष्टा नहीं रहे हैं। बहुतेरे कवियों ने गाँव की जिन्दगी को जिया है, वे अनुभव सिद्ध भोक्ता रहे है। इसलिए नयी कविता के कवियों ने ग्राम्य जीवन से जुडी अपनी अनुभूतियों को पूरी प्रखरता के साथ अभिव्यक्त किया है। एक तरफ जहाँ उन्होंने

1. नंदकिशोर नवल, ज्ञान और संवेदना, पृ०–368
2. गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रतिनिधि कविताऍं, पृ० 43–44

ग्राम जीवन की सांस्कृतिक समृद्धता आपसी सौहार्द्र, धार्मिक विश्वास एवं खुशहाली का जीवन्तं चित्रण किया है वही ग्रामीण जीवन में व्याप्त गरीबी, दरिद्रता, अभाव, अंधविश्वास, अशिक्षा, रूढ़िवादिता आदि उनकी लेखनी से अछूते नहीं रहे हैं। नयी कविता के कवियों ने बहुआयामी दृष्टि रखते हुए ग्राम्य जीवन का चित्रण किया है। जिनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक दृष्टियाँ प्रमुख हैं।

(i) राजनीतिक :

नयी कविता अपने पूर्ववर्ती काव्यधाराओं की अपेक्षा अपने युग के प्रति ज्यादा संवेदनशील है। लोकतान्त्रिक मूल्यों तथा राजनीति के प्रति उसमें गहरी सजगता दिखायी देती है। आज जब राजनीति मानव जीवन और समाज का महत्वपूर्ण हिस्सा बनती जा रही है ऐसे में किसी काव्यान्दोलन का उससे अछूता रहना अस्वाभाविक है। राजनीति और कविता के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए डॉ0 अशोक बाजपेयी कहते हैं 'आदमी के सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए जो संघर्ष हो रहा है, उसके रूप अनेक हैं और सीधी राजनैतिक कार्रवाई उनमें से एक है–शायद सबसे केन्द्रीय और ठोस भी। क्या हम अपेक्षा करते हैं कि कविता को इस कार्रवाई का ही एक हथियार साबित हो सकना चाहिए, तभी वह उपयोगी कविता होगी? ऐसी कविता होती होगी और संभवतः आज भी है जो ऐसा कारगर हथियार हो सके। लेकिन हम यह बात नजरअंदाज कर सकते हैं कि राजनैतिक कर्म का अपना जो तर्क होता है, अक्सर उसमें बुनियादी मूल्यदृष्टि पृष्ठभूमि में चली जाती है और कुछ और लक्ष्य प्राथमिकता पा जाते हैं और ऐसे में इस बुनियादी दृष्टि को जीवित और सक्रिय रखने और उसे बार–बार सबको, और संघर्षशील राजनैतिक कर्मी को भी, याद दिलाने का काम कविता को करना चाहिए?"[1] वैश्विक स्तर पर व्याप्त भयावह तनावों एवं राजनैतिक स्थितियों के अंकन में नयी कविता की भूमिका को स्पष्ट करते हुए जितेन्द्रनाथ पाठक का कहना है– 'राजनीति के क्षेत्र से उठे सभी मतवाद

---

1. अशोक वाजपेयी, कवि कह गया है, पृ० 41–42

मानवहित को अंतिम उद्देश्य मानते हुए भी उसके मार्गो को कूटिनीति के ऐसे दृढ़ स्तम्भों से बाँधे हुए हैं कि मानव हित की साधना के स्थान पर उसका हनन हो रहा है। आज विश्व राजनीति में एक ओर सामूहिक शक्ति और अधिनायक तन्त्र की ऐसी मान्यता है, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्र मर्यादा समाप्तप्राय है, दूसरी ओर व्यक्ति–स्वातंत्र्य के नाम पर ऐसे लोकतन्त्र की कल्पना है, जिसमें न्यूनाधिक मात्रा में शोषण और अधिनायक तन्त्र को भी प्रश्रय प्राप्त है। शक्ति शिविरों में विभाजित राजनीति के हाथ उन ध्वंसास्त्रों को पकड़े हुए हैं, जिनके किंचित उपयोग से भी विश्व–मानवता का संहार सुनिश्चित है। ....हिन्दी काव्य ने विश्व के इन भयावह तनावों के बीच कसते आधुनिक मनुष्य को इतने निकट से नही देखा था, जितना 'नयी कविता' का कवि देख रहा है।'[1]

नयी कविता के प्रमुख कवि रघुवीर सहाय की कविता आज के राजनैतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ का सही दस्तावेज है, जो झिंझोड़ता है, तिलमिलाता है, कोचता है। राजनैतिक विसंगतियों का ऐसा खाका, चालू भाषा में ऐसे व्यंग्य–परक चित्र अन्य कवियों के पास नहीं है–

"गाँव–गाँव में दिया जन–जन को
विश्वास
नेकराम नेहरू ने
कि अन्याय आराम से होगा
आम राय से होगा नहीं तो कुछ नहीं होगा
गाँका।'[2]

प्रगतिशील चेतना के धनी नयी कविता के एक सशक्त कवि केदारनाथ अग्रवाल हैं, जिन्होंने अपने काव्य–संग्रह 'जो शिलाएं तोड़ते है की सन् 41 में लिखी कविता 'देहात का जीवन' में भोली–भाली, अनपढ़ और गँवार जनता पर किये जा रहे अत्याचारों का जीवन्त चित्रण किया है। जनता के प्रतिरोध को बर्बर पशु बल से दबा दिया जाता था–

---

1. सम्पादक (जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेवनारायण साही), नयी कविता, सैद्धान्तिक पक्ष, खण्ड–1, पृ०–180

2. डॉ० गोविन्द रजनीश, समसामयिक हिन्दी कविता : विविध परिदृश्य, पृ०–174

''सुन तो जल्दी अरी घसिटिया..........
पकड़ा गया है दादा तेरा!
जाने कैसा जुलुम किया है!
थाने में रोता है बैठा!!
दौड़–दौड़ तू, जल्दी जा तू!
मैं जाता हूँ भैंस चराने!!''[1]

गजानन माधव मुक्तिबोध नयी कविता आन्दोलन की प्रगतिशील धारा के सशक्त कवि हैं, उन्होंने जनविरोधी सामाजिक–राजनीतिक प्रचार करने वाले थोथे सिद्धान्तकारों का विरोध करते हुए कहा कि ''इस सारी भाव–धारा का उद्देश्य, कि जो भाव धारा सौन्दर्य सम्बन्धी प्रश्नों से लेकर जनता की परिकल्पना तक आ पहुँचती है, यह है कि लेखक को हर तरह से उन वात्याचक्रों से दूर रखा जाये, जो शहरों की गलियों और सड़कों में राजनैतिक और सामाजिक विक्षोभ बनकर प्रकट होते हैं। इसीलिए जरूरी समझा गया कि जनता के संगठित समूहों को 'भीड़' कहकर और समूहों में आत्मा के अभाव की स्थिति घोषित कर जनता को बदनाम करके लेखक को जनता से अलग रखा जाय।''[2]

मुक्तिबोध द्वारा लिखित एक कविता 'मेरे सहचर मित्र' है। जो अपने मित्र को संबोधित करके लिखी गयी है। यह वही मित्र है जिससे कवि ने मार्क्सवाद की शिक्षा ग्रहण की थी। शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त कवि के मन में अनेक प्रश्न थे। उसके प्रश्नों का उत्तर मित्र ने दिया। जिससे कवि के मन में हलचल मच गयी। उसके भीतर एक बहस छिड़ गयी। एक तरफ मित्र से प्राप्त उत्तर, दूसरी तरफ देश–विदेश के क्रान्तिकारी अनुभवों को लेकर लिखे गये ग्रन्थों को पढ़ता हुआ एक तेजस्वी और उद्रदंड क्रान्तिकारी व्यक्ति, आजानुबाहु, पत्थर की कुर्सी पर बैठा हुआ, जो और कोई नहीं, स्वयं कवि है। मुक्तिबोध के शब्दों में–

---

1. डॉ० रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ०–267
2. नंदकिशोर नवल, ज्ञान और संवेदना, पृ० 109–110

औ 'अकस्मात, जबरन धक्के से
शिलाद्वार
वह गुहा आत्मा का धड़ से
खुलता है
औं अन्तर के उस गुहा तिमिर में
एक सुदृढ़
पत्थर के टेबल पर रक्खे
रक्ताभ दीप की लौ
कुछ हिलती'डुलती है
अँधियाले में प्रस्फुटिता
लाल–वलय–शाली

× × × ×

देश–देशान्तर के,
जो पढ़ता हुआ जातवेदस् उदण्ड
क्रान्तिदर्शी कोई
बैठा है पत्थर–कुर्सी आजानुबाहु,
वह सहसा उठ
आँधी–बिजली पानी के क्रुद्ध देवता से
घुस पड़े भव्य उत्तर का अभिवादन प्रचण्ड
उससे विशाल आलिंगन कर
सहसा वह बहस छेड़ देता

× × × × ×

मानवी–प्राणों के
मर्मो की व्यथा–कथा.....अंगार तपस्या पर
मानव स्वभाव के प्रश्नों पर,
मानव–सभ्यता–समस्या पर,"[1]

मुक्तिबोध ने 'चकमक की चिनगारियाँ' कविता में उत्पीड़को से मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त करते हुए क्रान्ति की आग भड़काने का अह्वान किया है। मुक्तिबोध को इस बात का भी पूरा एहसास है कि यह प्रश्न जितना सीधा है उसका उत्तर उतना सीधा नहीं है, वरना यह आग कभी भड़क उठी होती। प्रस्तुत पंक्तियॉ दृष्टव्य हैं–

"मेरे सामने है प्रश्न,
क्या होगा कहाँ किस भाँति,

1. गजानन माधव मुक्तिबोध, चॉद का मुँह टेढा है, पृ० 113–14

मेरे देश भारत में,
पुरानी हाय में से
किस तरह से आग भभकेगी,
उड़ेंगी किस तरह भक् से
हमारे वक्ष पर लेटी हुई
विकराल चट्टों
व इस पूरी क्रिया में से
उभरकर भव्य होंगे, कौन मानव–गुण?"[1]

नागार्जुन नयी कविता युग के मार्क्सवादी दृष्टि सम्पन्न जनचेतना के कवि हैं। राजनीतिक कवि के रूप में उनकी विशेष पहचान है। बाबा नागार्जुन ने प्रजातन्त्र के लबादे में पल रही तानाशाही एवं सामन्ती राजनीतिक व्यवस्था एवं तज्जन्य बिडंम्बनापूर्ण स्थितियों पर गहरा व्यंग्य किया है। उनकी 'मास्टर!' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

"अरे, अभी उस रोज वहाँ पर सरे आम जक्शन–बाजार में,
शिक्षा मंत्री स्वयं पाधारे चम–चम करती सजी कार में,
ताने थे बंदूक सिपाही, खड़ी रही जीपे कतार में,
चटा गए धीरज का इमरित, सुना गए बातें उधार में,
चार कोस से दौड़े आए जब मंत्री की सुनी अवाई,
लड़कों ने बेले बरसाए, मास्टर ने माला पहनाई,
संगीनों की घनी छाँव में हिली माल, मूरत मुसकाई,
तंबू में घुस गए मिनिस्टर, मास्टर पर कुछ दया न आई"[2]

धूमिल नयी कविता के एक प्रमुख कवि हैं उन्होंने समकालीन जीवन की विसंगतियों एवं तनावों का यथार्थ चित्रण किया है। 'संसद से सड़क तक' उनका एक प्रसिद्ध काव्य संग्रह है जिसमें संकलित 'पटकथा' धूमिल की अभी तक की सबसे लम्बी और महत्वाकाँक्षी कविता है। 'पटकथा' कविता के विषय में डॉ0 अशोक बाजपेयी का कहना है कि–'उसकी थीम व्यापक है और यह कहना भी शायद काफी न हो कि वह देश के समकालीन विखराव और प्रजातन्त्र की सचाइयों के सिलसिले में भारतीय मनुष्य की स्थिति का सही जायजा लेने की

---

1. गजानन माधव मुक्तिबोध, चॉद का मुँह टेढ़ा है, पृ०–164
2. संपादक– नामवर सिंह, नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 98–99

कोशिश करती है। जनता संसद, संविधान और प्रजातन्त्र जैसे शब्द और धारणायें इधर की कविता में चालू मुहावरा बन गयी हैं और 'पटकथा' भी इन्हीं के इर्द'गिर्द धूमती है। यह जरूरी नहीं कि जो दूसरों में चालू मुहावरा हो वह किसी समर्थ कवि में विशिष्ट और ठोस अभिव्यक्ति न हो सके।'[1] धुमिल हमारी लोकतान्त्रिक संस्थाओं, यहँ तक कि संसद तक में व्याप्त भ्रष्टता, बेईमानी और लूट को चालू मुहावरे, फिकरेबाजी और बड़बोलेपन पर उतर कर सशक्त अभिव्यक्ति देते हैं 'पटकथा' कविता की कुछ पंक्तियॉ निम्नलिखित हैं–

''यह सच है कि
अपने यहाँ संसद–
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है'[2]
''दरअस्ल, अपने यहाँ जनतन्त्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है
×   ×   ×   ×
मैने अहिंसा को
एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैनें ईमानदारी को अपनी चोरजेबें
भरते हुए देखा
मैंने विवेक को
चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा.......'[3]

नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षर सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्राम्य और नगरीय चेतना के कवि है। उनमें राजनीतिक विसंगतियों का तीखा एहसास मौजूद है। तभी तो अपनी एक कविता में वे लोकतन्त्र की तुलना जूते से करते हुए कहते हैं–

---

1. अशोक वाजपेयी, कवि कह गया है, पृ०–139
2. धूमिल, संसद से सडक तक, पृ०–127
3. वही, पृ० 105, 120

"लोकतन्त्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाए।"[1]

केदारनाथ अग्रवाल ने गाँव और किसानों से विशेष तादात्म्य स्थापित किया, उनमें उन्होंने जनचेतना जागृत की। वे उनकी भावनाओं को अभिव्यक्ति देते थे, और उनका पक्ष लेकर शत्रु दल को ललकारते थे–

"यह धरती है उस किसान की
जो बैलों के कंधों पर
बरसात घाम में
जुआ भाग्य का रख देता है,
खून चाटती हुई वायु में
पैनी कुसी खेत के भीतर
दूर कलेजे तक ले जाकर
जोत डालता है मिट्टी को।"[2]

राजनीतिक चेतना से युक्त नागार्जुन की एक प्रसिद्ध कविता है– 'आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी'। इस कविता में लोकगीतों का–सा स्पर्श है। पालकी के साथ जवाहर लाल की तुक ने व्यंग्य में और पैनापन ला दिया है। भारत की गरीबी और बदहाली का जिम्मेदार ब्रिटेन है, उसी ब्रिटेन के साथ भारतीय नेताओं की मैत्री को देखकर नागार्जुन के ह्रदय में तीव्र आक्रोश उत्पन्न होता है, साथ ही वे ब्रिटिश मलका और उसके भारतीय भक्तों पर खुल कर हँसते हैं। कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं–

"बेबस–बेसुध, सूखे–रूखड़े,
हम ठहरे तिनकों के टुकड़े
टहनी हो तुम भारी भरकम डाल की
खोज खबर तो लो अपने भक्तों के खास महाल की!
लो कपूर की लपट
आरती लो सोन के थाल की
आओ रानी, हम ढोएँगे पालकी!"[1]

---

1. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ०–120
2. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ०–272

'शासन की बन्दूक' शीर्षक नागार्जुन की कविता, मूर्तिविधान की विशदता और उदात्त स्तर की राजनीतिक कविता के रूप में जानी जाती है दमन के लिए शासनतन्त्र बहुत–सी बन्दूकें इस्तेमाल करता है। नागार्जुन ने उन सबकों मिलाकर एक बड़ी बन्दूक बना दी है जो आकाश में बिराट होकर छा गयी है। क्षुब्ध जनता को कंकालों की हूक कह कर सम्बोधित किया गया है–

"खड़ी हो गयी चाँपकर कंकालों की हूक
नभ में विपुल विराट–सी शासन की बंदूक'[2]

रघुवीर सहाय भारतीय लोकतन्त्र की विसंगतियों के बीच मरते हुए बहुसंख्यक मतदाता के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविताऐं जन जीवन की खबरे देने वाली कविताऐं हैं। 'रघुवीर सहाय ने कविता और राजनीति के बीच प्रजातान्त्रिक सहकार–जो निश्चय ही तनाव और द्वन्द्व भरा भी होगा ही–प्रतिपादित किया। कविता में तो शाश्वत का दबाव पहले से ही रहा आया है; पर रघुवीर सहाय ने इस शाश्वतता को राजनीति के लिए भी प्रासंगिक बनाया, यह जताते हुए शाश्वत मूल्यों का राजनैतिक आशय भी है'। वे जर्मन कवि एन्सेंजवर्गर से सहमत होते कि "कविता अनुकरणीय ढंग से यह व्यक्त करती है कि वह खरचने के लिए राजनीति को सुलभ नहीं है। यही कविता का राजनैतिक कथ्य है।"[3] सहाय जी के काव्य–संग्रह 'आत्महत्या के विरूद्ध' की कविताएँ आज के राजनैतिक ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ की सही दस्तावेज हैं जो झिंझोड़ती हैं, तिलमिलाती हैं कोंचती हैं। राजनैतिक विसंगतियो का ऐसा खाका, चालू भाषा में ऐसे व्यंग्यपरक चित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं; 'नयी हँसी' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

"महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं,

---

1. संपादक– नामवर सिंह, नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ०–102
2. वही, पृ०–104
3. अशोक वाजपेयी, कवि कह गया है, पृ०–90

हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर
बीस बड़े अखवारों के प्रतिनिधि पूँछें पचीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहे महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार
आँख मारकर पचीस बार वह, हँसे वह पचीस बार
हँसे बीस अखबार
एक नयी ही तरह की हँसी यह है"[1]

किसी घटना के अर्थ को रघुवीर सहाय जी अपनी कविताओं में जिस तरह अभिव्यक्त करते हैं वह उन्हें विशिष्ट राजनैतिक कवि के रूप में सामने लाता है। उनकी काफी कविताओं का दृश्य शान्त और सहज नहीं है, बल्कि आक्रमक, छटपटाहट और चीत्कार भरा है वह अधिक सीधे आज के हिन्दुस्तानी आदमी के जीने के कर्म को परिभाषित करने की ओर प्रवृत्त है। जैसा कि रघुवीर सहाय ने अपने वक्तव्य में कहा है: "लोकतन्त्र—मोटे बहुत मोटे तौर पर लोकतन्त्र— ने हमें इनसान की शानदार जिन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।"[2] इस चाँप को खोजने और उसका बखान करने की कोशिश ही रघुवीर सहाय का नया काव्य—संस्कार है। 'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह में संकलित कविता 'मेरा प्रतिनिधि' में सहाय जी ने संवेदनशील व्यक्ति के रूप में आम आदमी की घुटन और मोहमंग की व्यथा को अभिव्यक्त किया है—

"बीस वर्ष
खो गये भरमें उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जनमी पली—पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में"[3]

वैज्ञानिक अन्वेषणों ने भौतिकवाद को जन्म दिया। भौतिक वाद ने हमारी परम्परागत समन्वयशील मान्यताओं एवं विश्वासों को खंडित कर दिया। ईश्वर के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया। मशीन युग की कर्कशता ने मानवीय संवेदनाओं का हनन कर विषमता को जन्म दिया। राजनीति भी उससे अछूती नहीं रही।

---

1. संपादक— सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ०—49
2. अशोक वाजपेयी, कवि कह गया है, पृ०—156
3. संपादक, सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ०—66

लोकतान्त्रिक संस्थाऐं एवं जनप्रतिनिधि भ्रष्टाचार, बेईमानी एवं लूट में आकण्ठ डूब गये। राजनीति में पूँजीपतियों का वर्चस्व हो गया जनता तानाशाही और सामन्ती तरीकों से शोषित एवं उत्पीड़ित होने को मजबूर हो गयी। आम जनता पर होने वाले अत्याचारों एवं क्रूरताओं तथा राजनैतिक तानाशाही को नयी कविता के कवियों ने सीधी–सपाट तथा मुहावरेदार भाषा में अभिव्यक्ति दी तथा सामान्य जनमानस में राजनैतिक चेतना पैदा की जिससे उनमें अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति चेतना का संचार होने लगा। राजनैतिक चेतना सम्पन्न नये कवियों में नागार्जुन मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धूमिल, त्रिलोचन, दुष्यन्त कुमार प्रमुख हैं। इन कवियों ने राजनीतिक मूल्यहीनता, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के क्षरण को अपनी कविता के माध्यम से सशक्त अभिव्यक्ति दी है, जो आगे आने वाली पीढ़ियों को जागरूक एवं सचेत रहने का संदेश देती है।

(ii) सामाजिक :

नयी कविता युग के जीवन की गहराइयों से जुड़ी हुयी है। सामाजिकता या लोकोन्मुखता उसकी एक प्रमुख प्रवृत्ति है। कुछ आलोचकों द्वारा नयी कविता पर लगाया जाने वाला असामाजिकता का आरोप निराधार है। नयी कविता मुख्यतः समसामयिक परिस्थितियों, समस्याओं विशेषकर लघुमानव अथवा जनसामान्य के सुख–दुःख को लेकर उसके समनांतर ही मुखरित होती रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में जो सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियाँ उभर कर सामने आयीं उससे समाज के सभी वर्गो में एक प्रकार की निराशा खालीपन एवं अनिश्चितता व्याप्त हो गयी। नयी कविता के कवियों ने अपनी कविताओं में अपने समय के समाज एवं तत्कालीन परिस्थितियों को पूरी जीवन्तता के साथ उभारा है। नये कवियों की सामाजिक संचेतना की चर्चा करते हुए डॉ0 रघुवंश कहते हैं कि "आज की इस सामाजिक परिस्थिति ने कवि को संवेदित किया है। वह इस सर्वग्राही जड़ता और कुण्ठा का अनुभव अपने जीवन में कर रहा है। यह कुण्ठा पलायनवादी न होकर परिस्थितिजन्य है। उसके मन का संघर्ष, विषमता, आवेश, विश्रृंखलता सभी इस सामाजिक परिस्थिति का संवेदन हैं।

समाज जिस परिस्थिति में अनायास पड़ा हुआ है, उसका अनुभव वह बहुत स्पष्ट रूप से कर पा रहा है। कवि उस परिस्थिति से टकरा रहा है। और यह संक्रान्तिकालीन स्थिति का स्वस्थ लक्षण है। नदी के प्रवाह पर जमा हुआ बर्फ समान रूप से सारे जल विस्तार की गति को रोक देता है। पर उसकी बाधा का एहसास अन्तर्वती धारा को ही होता है, वह उसको काटने का दुर्दम प्रयास करती हुई टकराकर नीचे से बहती है। आज के कवि का संघर्ष, उसकी आशा–निराशा–जन्य कुण्ठाएँ व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक हैं[1]

त्रिलोचन प्रगतिशील चेतना के नये कवि हैं। उनकी कविताओं में ग्राम्य जीवन एवं समाज के प्रति गहरी संशक्ति के दर्शन होते हैं। उनकी काव्य–कृति 'उस जनपद का कवि हूँ' की एक कविता ' झाँय–झाँय करती दुपहरिया' है, जिसमें प्रकृति के कोण में स्पन्दित ग्रामीण जिन्दगी एवं मानवीय सम्बन्धों में व्याप्त आत्मीयता–भाव को कवि ने बखूबी चित्रित किया है। काव्य पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

"झाँय झाँय करती दुपहरिया नाच रही थी
जलती हुई। भौर–सी गर्मी की पगडंडी
मुझे ले गयी आमों की बारी में। की थी
नहीं अधिक की आशा। पा कर छाया ठण्डी,
आँख मूँद कर सोचा मन में, स्वर्ग यही है।
तब तक देखा तुमकों। इस उस पेड़ के तले
आम बीनते। अनुभव किया, पुकार रही है
प्यास, सुखा कर तालू को।
× × × × × × ×
'कौन', 'कहाँ से' पूछा तुमने,
× × × × × × ×
ढेसर आम खिलाकर पानी मुझे पिलाया।
ये वे बातें– 'फिर आना' कब मिला मिलाया।'[2]

---

1. संपादन (जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेवनारायण साही), नयी कविता सैद्धान्तिक पक्ष, खण्ड–1, पृ० 142–43
2. संपादक– केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन–प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 92–93

अपने परिवेश से प्रभाव ग्रहण करना किसी रचनाकार का सहज धर्म है। 'जिस समाज में हम रहते हैं, उसके द्वारा प्रदत्त अथवा उत्सर्जित भाव–परम्परा तथा मूल्यों से विछिन्न होकर, सृजन प्रक्रिया के अंगभूत मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं है..... हम जिस समाज, संस्कृति परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त में रह रहे हैं, उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का संस्कार करता है। हमारी आत्मा में जो कुछ है वह समाज प्रदत्त है– चाहे वह निष्कलुष अनिंद्य सौन्दर्य का आदर्श ही क्यों न हो!! हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है, आत्मा का सारा सार तत्व प्राकृत रूप से सामाजिक है।'[1] इसी प्रकार हम देखतें हैं कि गाँधीवादी संस्कारों तथा विचारों से सम्पन्न कवि भवानी प्रसाद मिश्र की ज्यादातर कविताओं का धरातल समाजिक–सांस्कृतिक है। ठेठ ग्रामीण जीवन उनकी कविताओं का विषय रहा है। युगों–युगों से व्यथित, श्रमजीवी किसान–मजदूर की व्यथा को उन्होंने शब्द दिये हैं, जिसने निराला और मुक्तिबोध को भीतर से चीर दिया था उसी व्यथा ने भवानी प्रसाद मिश्र का कलेजा चाक कर दिया है। ग्रामीण समाज में व्याप्त अभाव और लाचारी को वे कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

"गाँव में पहली किरन के साथ जागे
चैन जगने पर नहीं जिनको, अभागे,
जोतना है खेत, हल के साथ निकले,
बीज बोना है कि दल के साथ निकले।
सुबह की ठण्डी हवा, कपड़े नहीं हैं
पाँव रखते हैं कहीं, पड़ते कहीं हैं,
पाँव, जिनमें गति नहीं, कम्पन बहुत है
प्राण में जीवन नही, तड़पन बहुत है।"[2]

केदारनाथ अग्रवाल ग्रामीण समाज एवं वहाँ के जनजीवन से जुड़े हुए कवि हैं। किसानों से उन्हें गहरा लगाव है। उनकी रचनाओं में लोकभाषा की गन्ध है। उन्होंने अपनी जनपदीय भाषा में भी कुछ गीत लिखे। 1943 में

---

1. गजानन माधव मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ० 57–58
2. कृष्णदत्त पालीवाल, भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य संसार, पृ० 58–59

किसान–क्रान्ति का स्वप्न देख रहे केदार 'ओसौनी का गीत' में किसानों से कहते हैं–

"दौरी साधों अन्न ओसावौ अउर उड़ावौ पैरा,
ताल ठोंकि कै मारि भगावौ जेते ऐरा गैरा।
अन्न बटोरौ, रासि लगावौ छुइले परबत चोटी,
देस भरे के खेतिहर खावौ पेट–पेट भर रोटी।"[1]

फसल काटी गयी है, माड़ी गयी है, अब ओसायी जा रही है। कवि ने खेती–किसानी से जुड़े हुए शब्दों के प्रयोग द्वारा कृषि प्रधान ग्रामीण जीवन का जीवन्त चित्र खींचा है।

नागार्जुन प्रगतिशील चेतना के ऐसे कवि हैं, जिन्होंने निम्न वर्ग की स्थितियों, समस्याओं और चिन्ताओं को पूरे तीखेपन के साथ उभारा है। मध्य वर्ग से आने के कारण अपने वर्ग की समस्याओं और यथार्थ के दंश का उन्हें गहरा अनुभव है। उनकी कविताऐं निम्न वर्ग की स्थितियाँ और विवशताऐं, सामाजिक वैषम्य और विकृति को दर्शाती हैं–

"पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर–रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़, बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ–भार से अलस शिथिल हैं अंग–अंग..........
सब कुछ है, कोयला नहीं है
कैसे काम चलेगा बोलो
चावल नहीं सिझा सकती है
रोटी नहीं सेंक सकती है
भाजी नहीं पका सकती है
घिसे हुए पीतल सी–पाडुंर
पूस मास की धूप सुहावन
.......फौरन उठ कर जाना होगा
जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी
वर्ना इस चूल्हे के मुँह पर फिर मकड़ी का जाला होगा।'[2]

---

1. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ०–270
2. जगन्नाथ पंडित, नागार्जुन का काव्य और युग : अन्तः सम्बन्धों का अनुशीलन, पृ०–90

ये काव्य पंक्तियाँ आम जन–जीवन की समस्याओं से जुडी हुई हैं। नागार्जुन जी ने उन कवियों पर भी व्यंग्य किया है, जिनके लिए पूस मास की धूप रोमांस के लिए सुखद है। जहाँ पेट की समस्या हो, अभाव की पीड़ा हो वहाँ रोमांस के लिए स्थान नहीं रह जाता है।

पूँजीवादी व्यवस्था किसानो–मजदूरों के आर्थिक शोषण के साथ–साथ उनके सौन्दर्य बोध को कुण्ठित कर उनके जीवन को घृणित और कुरूप बनाती है। फूलों–फब्वारों से सजे हुए बाग–बगीचे पूँजीपतियों और उनकी रखैलों के लिए हैं, मजदूरों के लिए गन्दी बस्तियों की तंग कोठरियाँ हैं। समाजवाद का उद्‌देश्य शहर और गाँव का भेद मिटाना है, खेतों की हरियाली के बीच स्कूल, अस्पताल कायम करना वहाँ बिजली की सुविधाऐं पहुँचाना और शहरी बस्तियों की गन्दगी मिटा कर हरे–भरे पार्कों, पेड़ों और फूलों से उन्हें सुन्दर बनाना है। जो चेतना मनुष्य की इस प्राकृतिक आवश्यकता को समझती है, वही उसे सामाजिक संघर्ष में भाग लेने की प्रेरणा भी देती है।

> 'कल और आज' नागार्जुन की एक कविता है। कल गर्मी थी, आज पानी गिरा है। संक्रमण–बिन्दु पर प्रकृति मानों नागार्जुन को झटका देती है। फिर मन सघ जाता है, सारी प्रक्रिया एक क्षण में आँखों के सामने कौंध जाती है। काव्य *पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं:*
>
> *"अभी कल तक*
> *गालियाँ देते थे तुम्हें*
> *हताश खेतिहार*
> *अभी कल तक*
> *धूल में नहाते थे*
> *गौरैयों के झुण्ड*
> *अभी कल तक*
> *पथराई हुई थी*
> *धनहर खेतों की माटी*
> *अभी कल तक*
> *धरती की कोख में*
> *दुबके पडे थे मेंढ़क*
> *अभी कल तक*
> *उदास और बदरंग था आसमान*
> *और आज*

ऊपर ही ऊपर तन गये हैं
तुम्हारें तम्बू
और आज छमका रही है पावस रानी
बूँदों बूंदियों की अपनी पायल
और आज
चालू हो गयी है अविराम
झींगुरों की शहनाई लाजवाब
और आज
आ गई है वापस जान
दूब की झुलसी शिराओं के अन्दर
और आज
विदा हुआ चुपचाप ग्रीष्म
समेट कर अपने लाव–लश्कर।''[1]

नागार्जुन गाँव के कवि हैं, गाँव में ही वे पैदा हुए हैं, पढ़ लिख गये हैं लेकिन इससे उनके संस्कार विकृत नहीं हुए, परिष्कृत हुए हैं। उनमें अपनी भाषा का सादा जातीय रूप भरा हुआ है। अभी कल तक पथराई हुई थी धनहर खेतों की माटी–यह भाषा वैसे ही ठेठ हिन्दी है, जेसे धनहर खेतों की माटी ठेठ भारतीय धरती है। धरती की कोख में दुबके पड़े थे मेढक–जो तुच्छ और नगण्य हैं, प्रकृति की समूची कार्यवाही में वह भी कवित्वपूर्ण बन जाते हैं नागार्जुन की कविताओं में हमें लोक जीवन एवं लोकसंस्कृति की सहज आत्मीयता के दर्शन होते हैं।

मुक्तिबोध् नयी कविता युग के एक प्रमुख कवि है उनका निश्चित मत है कि किसी सामाजिक व्यवस्था की आलोचना उससे उच्चतर सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना समाजवादी दृष्टि से ही हो सकती है, क्योंकि उसमें एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना की गई है, जो वर्गीय शोषण से मुक्त ऐसी व्यवस्था होती है, जो भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पूँजीवादी व्यवस्था से उच्चतर होती है 'कामायनी : एक पुनर्विचार में वे कहते हैं : ''सच्ची स्वाधीनता और समानता की स्थापना तो तभी होती है, जब हम उसे पूरे वर्गहीन समाज के समाजिक लक्ष्यों

1. रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 163–64

से एकाकार करें। निश्चय ही हमारी नैतिकता के नये मानदण्ड तो सच्ची मानव–मुक्ति के इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति की दृष्टि से ही निर्णीत होंगे। जब तक हम वर्गहीन समाज की सामूहिक शक्ति से उद्योगों और खेत–खलिहानों का समाजीकरण नहीं करते, तथा देश का औद्योगीकरण, सृष्टि तथा प्रकृति के वैभव को मानव मात्र के समान उपयोग के लिए उपलब्ध नहीं करते, तब तक हम देश को, समाज को जनता को सुखी तथा समृद्ध भी नहीं कर सकते इस उद्देश्य की पूर्ति की पहली शर्त पूँजीवाद का अंत तथा समाजवादी समाज की स्थापना है।''[1] मुक्तिबोध सम्पूर्ण भारतीय जनता के जीवन और समाज को उच्चतर सांस्कृतिक स्तर पर पहुँचाने वाली राजनीतिक कार्यवाही के समर्थक थे। भारतीय जनता उनके लिए 'फटेहाल' भी थी और 'जिन्दादिल' भी उन्होंने 'सूरज के वंशधर' शीर्षक कविता में बहुत ही सशक्त ढंग से कहा–

''सूखी हुई जांघों की लंबी–लंबी अस्थियाँ
हिलता हुआ चलता है
लंगोटधारी यह दुबला मेरा हिंदुस्तान
रास्ते पर बिखरे हुए
चावल के दानों को बीनता है लपककर
मेरा यह सांवला इकहरा हिंदुस्तान
सटर–पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
रोते हुए बच्चों को कंधे पर बिठाए हुए
जिंदगी को ढोता है बहादुर हिंदुस्तान
अपने ही पुत्र के प्रेत को उठाए हुए सांवले हाथों में
शमशान की ओर जाता
दिल में बिलखता हुआ
विचारों का भावों का तूफानी समुंदर हिंदुस्तान
बेहद के मैदानों में दर्द–भरे कंठ से गाता है
मानव की पुकार का वह वेदना में
बल खाता अभिप्राय हिंदुस्तान
साँवली त्वचा से ढंकी हुई छाती की
अस्थियों के पंजर में पाले हुए
प्रकाश का शतदल
कि भावी के स्वप्नों की ज्योति को संभाले हुए

1. नंदकिशोर नवल, ज्ञान और संवेदना, पृ०–40

मारता है हथौड़ा
यह क्रान्ति का कारीगर कि वज्रकाय हिंदुस्तान।"[1]

यह स्वाधीन भारत की जनता की जीवन स्थितियों की सच्ची तसवीर है। इससे भारतीय जनता की आर्थिक स्थिति का भी पता चलता है, उसके रहन–सहन का भी, उसके जीवन–संघर्ष का भी और उसकी क्रान्तिकारिता का भी। आजादी के बाद भी भारतीय जनमानस की जीवन स्थितियाँ लगातार बदहाल होती गयीं।

साम्प्रदायिक सौहार्द्र और सामाजिक समरसता का गहरा भाव मुक्तिबोध की कविताओं में मिलता है। 'मुझे याद आते हैं कविता की कुछ पंक्तियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं–

"दूर–दूर मुफलिसी के टूटे–फूटे घरों में
सुनहले चिराग बल उठते हैं;
आधी–अँधेरी शाम
ललाई में निलाई से नहाकर
पूरी झुक जाती है
थूहर के झुरमुटों से लसी हुई मेरी इस राह पर!
धुँधलके में खोये इस
रास्ते पर आते–जाते दीखते हैं
लठ–धारी बूढ़े–से पटेल बाबा
ऊँचे–से किसान दादा
वे दाढ़ी–धारी देहाती मुसलमान चाचा और
बोझा उठाये हुए
माएँ, बहनें, बेटियाँ..........
सबको ही सलाम करने की इच्छा होती है,
सबको राम–राम करने को चाहता है जी
आँसुओं से तर होकर प्यार के...............
(सबका प्यारा पुत्र बन)
सभी ही का गीला–गीला मीठा–मीठा आशीर्वाद
पाने के लिए होती अकुलाहट।" [2]

1. नंदकिशोर नवल, ज्ञान और संवेदना, पृ०–151
2. गजानन माधव मुक्तिबोध, चाँद का मूँह टेढ़ा है, पृ० 98–99

रघुवरी सहाय नयी कविता दौर के एक सशक्त कवि हैं वे अपनी कविताओं के विषय समाज में मनुष्य की बदलती जीवन–स्थितियों में तलाशते हैं। 'पढ़िए गीता' कविता में मध्यवर्गीय नारी की दयनीय दशा का वर्णन है जिसमें विवाह के उपरान्त स्त्री का सारा दायरा घर की चहारदीवारी में केवल भोजन बनाने तक ही सीमित होकर रह जाता है। अपनी अभिलाषाओं को दबाकर कुढ़–कुढ़कर अपनी व्यथा को अपने भीतर ही रखकर स्त्री का समूचा जीवन बीत जाता है। कविता की पंक्तियाँ निम्नवत हैं:

"पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइये
होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबीयत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइये।"[1]

कीर्ति चौधरी की कविताओं में ग्रामीण समाज एवं वहाँ के परिवेश का बहुत स्वाभाविक एवं आकर्षक चित्रण हुआ है उनकी एक कविता 'दायित्व–भार' में ग्रामीण जनों की सामान्य दिनचर्या दृष्टव्य है–

"दिन चढ़ा, दोपहर ढल आयी:
वह धीवर की कन्या
डलियों में,
जाल मछलियाँ संग लिये वापस आयी।
सब पास–पड़ोसी,
चरवाहे, रखवारे, खेत–मड़ैयों के,
हल–बैलों की जोड़ी हाँके,
श्रम–भार गँवाते,
घर जाते।"[2]

---

1. संपादक, सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 28–29
2. सम्पादक, अज्ञेय तीसरा सप्तक, पृ०–35

नयी कविता ने ग्राम्य जीवन एवं समाज को पूरी व्यापकता एवं सशक्तता के साथ चित्रित किया है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, गरीबी, शोषण, परम्परागत रूढ़ियाँ, परम्परायें, लोक विश्वास पूरी सहजता में अभिव्यक्त हुए हैं। गरीबी और अभाव की पीड़ा से ग्रस्त होते हुए भी आपसी सौहार्द्र पारिवारिक सम्बन्धों में आत्मीयता तथा जीवन में व्यापक मानव मर्यादा की आस्था ग्राम्य समाज एवं वहाँ के जनजीवन में पायी जाती है। ग्रामीण समाज के इस वैविध्यमय स्वरूप को नयी कविता के कवियों ने व्यापक रूप से चित्रित किया है।

(iii) धार्मिक :

सभी भारतवासियों का जीवन धर्म से अनुप्राणित है। धर्म हमारे जीवन का प्राण है। यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि हमारी संस्कृति धर्म के ताने–बाने से बुनी गई है। हमारी संस्कृति, समाज और साहित्य में धर्म का स्वर सबसे ऊँचा है। प्राचीन भारतीय साहित्य का अनुशीलन करने से पता चलता है कि उसके निर्माण में धर्म की ही प्रेरणा रही है। धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत होकर तथा धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारी श्रुतियों का निर्माण किया गया था। आर्यों के धार्मिक उद्‌गारों ने वैदिक ऋचाओं का स्वरूप ग्रहण किया। यद्यपि नयी सभ्यता तथा शिक्षा के विकास के कारण हमारी प्राचीन धारणाओं और विश्वासों में परिवर्तन होने लगा है, परन्तु ग्राम्य संस्कृति में धार्मिक मान्यताओं एवं देवी–देवताओं के पूजा–पाठ में आज भी गहरी आस्था पायी जाती है। ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी उसी प्रकार से व्रत रखती हैं और अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए देवताओं की पूजा करती हैं जिस प्रकार से प्राचीन काल में की जाती थी पुरूष वर्ग भी धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत पाये जाते हैं। नयी कविता में ग्रामीण परिवेश में व्याप्त धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं को मिथकीय काव्यों एवं पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इन मिथकों और पौराणिक कथावृत्तों का प्रयोग वर्तमान सन्दर्भो में किया गया है। नयी कविता में पौराणिक प्रतीकों के प्रयोग के सन्दर्भ में मलयज का कहना है कि ''वस्तुतः परम्परागत मूल्यों की परीक्षा करते रहना और

सही अर्थों में उनसे अपने को जोड़ते रहना एक जीवित और प्राणवान काव्य–धारा की चारित्रिक विशेषता है। पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग जहाँ यह सूचित करता है कि मूल्यमय स्तर पर प्राचीन परम्परा वैज्ञानिक चेतना से उद्भूत प्रश्नों का समाधान किए बिना यथावत् ग्रहण नहीं की जा सकती, वहाँ उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसी स्तर पर परम्परा को सही अर्थों में समझने परखने और ग्रहण करने की चेष्टा की जा रही है।''[1]

नरेश मेहता द्वारा रचित 'संशय की एक रात' पौराणिक आख्यानों पर आधारित कृति है, जिसके प्रमुख पात्र राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान आदि हमारी धार्मिक आस्थाओं एवं विश्वासों से जुड़े हुए दैवीय शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व है। ये सभी पात्र वर्तमान सन्दर्भो में युगीन समस्याओं से जूझते हुए सामान्य जन के प्रतीत के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हनुमान की सहजता भी कुछ इसी भाव से अनुप्राणित है–

''मित्रों!
सीता माता
भले ही राम की पत्नी हों
किसी की बधू
किसी की दुहिता हों,
पर
हम कोटि–कोटि जनों की तो केवल
प्रतीक हैं–
रावण अशोक वन की सीता
हम साधारण जन की अपहृत स्वतंत्रता।''[2]

सहज मानव के लिए इसीलिए प्रतीक का महत्व होता है। वास्तविक तथ्य जो कुछ भी हो उसके विवेचन की क्षमता भी उसमें नहीं होती है। उसे एक प्रतीक चाहिए जिसे वह सब कुछ समर्पित कर सके, उसे श्रद्धा दे, अपनी उपासना का जिसे केन्द्र बना सके।

---

1. संपादन (जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेवनारायण साही) नयी कविता : सैद्धान्तिक पक्ष, खण्ड–1
2. श्री नरेश मेहता, संशय की एक रात, पृ०–64

'एक कंठ विषपायी' पौराणिक कथावृत्तों पर आधारित दुष्यन्त कुमार द्वारा रचित काव्य–नाटक है। इसमें प्रयुक्त प्रतीकों का स्वरूप 'शिव पुराण' से सम्बद्ध होने के बाद भी कवि दुष्यंत कुमार ने इसको समसामयिक बना दिया है। इस काव्य नाटक के अधिकतर पात्र हिन्दू धर्म के प्रमुख देवी–देवता हैं। 'एक कंठ विषपायी' के शंकर हमारी परम्पराओं के भंजक बनकर सदैव संघर्षशील व्यक्ति की संवेदना को जीते हैं। एक असमर्थ राजा के रूप में निर्णय लेने वाले चरित्रों को जीने वाले ब्रह्मा हैं, तो विष्णु का चरित्र न्याय की पक्षधरता को उजागर करता है। इन्द्र एक सत्ता लोलुप यक्तित्व के प्रतीकार्थ हैं। 'एक कंठ विषपायी' जर्जर रूढ़ियों और परम्परा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित करने के लिए पर्याप्त रूप से सक्षम है। जड़ परम्पराओं एवं रूढ़ियों से मुक्ति का आकांक्षी कवि कहता हैं–

"चाहे वे साधारण जन हों,
अथवा महादेव शंकर हों
क्यों इनमें अधिकांश लोग लाशें ढोते हैं:
लाशें मरी मान्यताओं की
मरे विचारों की
भावों की............ ।
विष्णु : लाशें ढोने वाले अक्सर
खुद भी तो लाशें होते हैं।
इन्द्र : लेकिन ऐसा क्यो होता है?
विष्णु : क्योंकि सत्य का ताप
बड़े संयम से औ श्रम से झिलता है,
जिसमें उद्घाटित होता है सत्य
उसे सृजन का सुख मिलता है,
किन्तु सृजन से पहले की पीड़ाओं जैसी
पीड़ा इसमें भी होती है............"[1]

धर्मवीर भारती ने अपनी कृति 'अंधायुग' में महाभारत कालीन कथानक का चयन कर उसे समकालीन दौर की समस्याओं से जोड़ा है। कृष्ण जो हमारी धार्मिक आस्था और विश्वास के प्रतीक हैं, उनको कवि ने ईश्वरीय गरिमा और

1. दुष्यन्त कुमार, एक कंठ विषपायी, पृ० 131–32

मानवीय रूप में रखकर बुनियादी सवालों से जूझते हुए चित्रित किया है। श्रीमद्भागवत में वर्णित विराट लीला–रूप कृष्ण पांडवों के प्रति सहानुभूति के बावजूद अपने को बार–बार गांधारी के पुत्र–रूप में घोषित करते हैं। भारती जी कृष्ण–जीवन के रहस्य को खोलकर भी उसे और गहरा कर देते हैं–

"तुम जो हो शब्द–ब्रह्म, अर्थों के परम अर्थ
जिसका आश्रय पाकर वाणी होती न व्यर्थ
है तुम्हें नमन ; है उन्हें नमन
करते आये हैं जो निर्मल मन
सदियों से लीला का गायन
हरि के रहस्यमय जीवन की;
है जरा अलग यह छोटी–सी
मेरी आस्था की पगडंडी।"[1]

आस्था का राजमार्ग नहीं, बल्कि अपने द्वारा आविष्कृत छोटी सी पगडंडी कवि के लिए वरेण्य है। 'अंधा युग' बनाम आस्था–पूरी रचना का संघर्ष यहीं है। "अंधा युग' का पात्र अश्वत्थामा जीवन के कठोर और क्रूरतम यथार्थ में जीता है। वह मानव–मूल्यों के स्खलन जैसी भयानक प्रतिहिंसा और विकृति को जन्म देता है।

अश्वत्थामा महाभारत की भीषणतम् उपज है, और एक स्तर पर दिखाता है कि युद्ध अपने में मानव–मूल्यों का हनन है। 'धर्म युद्ध' महाभारत के विषय में एक विरोधाभासी कथन है। अश्वत्थामा, व्यास की चेतावनी ठुकराकर कृष्ण की ईश्वरीय शक्ति को भी चुनौती देता है। कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

"जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा–सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगें
नदियों में बह–बह कर आयेगी पिघली आग।
अश्वत्थामा– भस्म हो जाने दो
आने दो प्रलय व्यास!
देखूँ मैं रक्षण– शक्ति कृष्ण की?"[1]

---

1. धर्मवीर भारती, अन्धा युग, पृ०–98

ग्राम्य समाज में कुल देवता और कुल देवी के अतिरिक्त और भी बहुत सी प्राकृतिक शक्तियों को देवी–देवताओं के रूप में पूजा जाता है। ग्रामीण समाज में धार्मिक विश्वास और दैवीय शक्तियों में गहरी आस्था पायी जाती है। नयी कविता के एक सशक्त कवि नरेश मेहता ने मेघराजा को सम्बोधित करते हुए इसी भाव बोध की अभिवयक्ति की है–

"मेघराजा!
यह अपात्री जलकृपा किस जोट बाँधे?
किस खेत को अपना बता
मेड़ बाँधे,
हर्ष से विनये–
ओ देववर्षा!
इन आँगने, खेते अमृत बरसो।
× × × × ×
कुलदेवता, कुलअम्बिका से
पुरजनों के खेत–पोखर जहाँ फैले
चलो अमृत करो ठाकुर!
इस सहज परविार को
अपनी कृपाएँ व्याह दो,"[2]

धर्मिक विश्वास, प्राकृतिक शक्तियों के प्रति पूजा भावना, तथा मनौतियाँ मानने की परम्परा ग्रामीण जन–जीवन में प्राचीन काल से चली आ रही है। आज भी ग्रामीण समाज में प्राकृतिक शक्तियों तथा देवी–देवताओं के प्रति इस गहरे विश्वास को उत्सव–त्यौहारों में स्पष्टतः देख सकते हैं। नयी कविता के एक प्रमुख कवि केदारनाथ सिंह की कविता 'दीप–दान' में ग्रामीण जनों के प्रकृति के प्रति इस गहरे राग–भाव को हम स्पष्टतः देख सकते हैं–

"जाना, फिर जाना,
उस तट पर भी जा कर दिया जला आना,
पर पहले अपना यह आँगन कुछ कहता है,
उस उड़ते आँचल से गुड़हल की डाल
बार–बार उलझ जाती है,

---

1. धर्मवीर भारती, अन्धा युग, पृ०–75
2. श्री नरेश मेहता, बनपाखी! सुनो!!, पृ० 42–43

एक दिया वहाँ भी जलाना:
जाना, फिर जाना,
एक दिया वहाँ जहाँ नयी–नयी दूबों ने कल्ले फोड़े हैं,
एक दिया वहाँ जहाँ उस नन्हें गेंदे ने
अभी–अभी पहली ही पँखड़ी बस खोली है।''[1]

नयी कविता के एक सशक्त कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हैं। उनके काव्य संकलन 'कुआनों नदी' की एक कविता 'भुजैनियाँ का पोखरा' है इस पोखरें के साथ कई किंवदंतियाँ और अंधविश्वास जुड़े हुए हैं। हर नागपंचमी को लड़कियाँ सखियों के साथ आकर उस पोखरें में गुड़ियाँ सिराती है और भुजइन के सम्बन्ध में अनेकों काल्पनिक किस्से कहती हैं। जबकि सच्चाई यह है कि भुजइन की बेटी विपन्नता से इस पोखर में डूब कर मर गयी थी। कवि के शब्दों में–

''चालीस साल पहले वह मरी थी
यहाँ डूब कर
जहाँ मेरी बहिन हर नागपंचमी को
अपनी सखियों के साथ
गुड़ियाँ सिराती थी
और मैं हरे जल पर तैरती गुड़ियों को
रंगीन छड़ियों से मारता था।
उसके नाम से यह पोखरा
लगता है हर गाँव में आज भी है
भाड़ के सामने काली भूतनी–सी
आज भी वह बैठी है।''[2]

नयी कविता में वर्तमान समय की जटिलताओं एवं युगीन जीवन की समस्याओं को पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। युगीन समस्याओं में युद्ध, शाँति, मानवीय लघुत्व, व्यक्तित्व विखण्डन, संक्रमित मूल्य दृष्टि, नैराश्य तथा कुंठा इत्यादि प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं। ईश्वर, धर्म, दर्शन आदि मानवीय आस्था के प्राचीन उत्सों के झूठे पड़ जाने अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो जाने की स्थिति में मानवीय आस्था के ज्वलंत प्रश्न को

---

1. सम्पादक, अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृ० 138–39
2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुआनो नदी, पृ०–46

प्रतीकात्मक स्तर पर पौराणिक प्रबन्धों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। मिथकीय काव्यों तथा पौराणिक कथा पर आधारित कृतियों में नरेश मेहता की 'संशय की एक रात', 'शबरी; 'प्रवाद पर्व' महाप्रस्थान, धर्मवीर भारती का अन्धा युग; 'कनुप्रिया; दुष्यन्त कुमार का 'एक कण्ठ विषपायी; डॉ0 जगदीश गुप्त का 'शंबूक', कुँवरनारायण की 'आत्मजयी' आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा हमें सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र तथा केदारनाथ सिंह की कविताओं में ग्राम्य समाज में व्याप्त धार्मिक मान्यताओं, लोकविश्वासों, परम्पराओं, मनौतियों, दैवीय एवं प्राकृतिक शक्तियों में गहरी आस्था का वर्णन मिलता है।

(iv) आर्थिक :

अर्थव्यवस्था वर्गीय समाज और विचारधारात्मक अधिरचना का वह आधारभूत तत्व है जो अपने गत्यात्मक परिवर्तन से समाज की तमाम व्यवस्थाओं को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। शास्त्र के मतानुसार 'अर्थ' उन चार पुरूषार्थों मे से एक है जो जीवन को सार्थक बनाने वाले तत्व और मोक्ष प्राप्ति के प्रमुख सोपान के रूप में स्वीकृत है। 'अर्थ' मानव के भौतिक विकास की चरम उपलब्धि और श्रम की रचनात्मक क्षमताओं का प्रतिफल है। 'अर्थ' से ही हमारी विचारधारायें, सोच की दिशा और संस्कृति बदलती है। समस्त मानव जगत की संचालिका शक्ति होने के कारण कहीं वह प्रतिभा को निखारता है, कहीं कुंठित करता है और कहीं पण्य वस्तु बना देता है। असत्य को सत्य तथा नीति को अनीति का मूल्य प्रदान करने में इसकी मायावी शक्ति की विशिष्टता देखी जा सकती है। पर 'अर्थ' को मानवीय मूल्यों से ऊपर रखकर नहीं देखा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध का विचार उल्लेखनीय है, उनका कहना है कि: ''आर्थिक तुला के आधार पर,घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य के मूल्य को न आँका जाये। मनुष्य अपनी और अपने परिवार की अस्तित्वरक्षा के आर्थिक–भौतिक संघर्ष और तत्सम्बन्धी चिन्ताओं से छूटकर, निर्माण और सृजन के कार्य में लगकर समाज की उन्नति और प्रगति में योग दे, तथा उसको अपने निजत्व के विकास के अवसर प्राप्त हों– सबकों समान रूप से। आर्थिक

उत्पीड़न और शोषण मूलक यह जो भयानक पूँजीवादी समाज व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो।"[1]

नयी कविता का विस्तार मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। आर्थिक व्यवस्था–अव्यवस्था का चित्रण भी नयी कविता में देखा जा सकता है समाज में व्याप्त असंतोष का सबसे प्रमुख कारण बदहाल अर्थव्यवस्था ही है। समाज में आर्थिक विषमता की खाई इतनी गहरी है कि असंतोष का होना स्वाभाविक है। समाज में गरीब लोग आर्थिक विपन्नता की चक्की में दिन–रात पिसते रहते हैं। नयी कविता इस सत्य को उद्घाटित किये बिना कैसे रह सकती है? इस सम्बन्ध में प्रभाकर माचवे की "निम्न मध्यवर्ग" कविता दृष्टव्य है–

"नोन–तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन से,
मकड़ी के जाले से, कोल्हू के बैल–से।
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अँधियारे और बदबू–भरे, दड़बों में
जनते है बच्चे।
शहर की तमाम नालियों की जो सड़ाँध है,
न घुस पाती इन के दिमाग में, नथुनों में।
पुर्जो–से बेजान,
बीस–बीस पच्चीस
महावार रूपयों पर जीते हैं।"[2]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ग्राम्य चेतना से युक्त नयी कविता के ऐसे कवि हैं जो प्रतीकों का सहारा लेकर युग की विसंगतियों पर गहरी चोट करते हैं। वे आत्मबोध और युग यथार्थ से जूझने वाले कवि हैं। उनकी समूची ग्राम्य–संवेदना जनजीवन से लगाव, मूल्यों की खोज, पहचान की छटपटाहट और अस्तित्व की सार्थकता में व्यक्त हुई है। भूख और अभाव की पीड़ा सबसे बड़ी होती है। आदमी की बुनियादी जरूरत रोटी है, उसके बिना सारा ज्ञान, दर्शन, धर्म पीछे छूट जाता है। सर्वेश्वर जी की 'पोस्टमार्टम की रिपोर्ट' शीर्षक कविता में हम इसे बखूबी महसूस कर सकते हैं–

---

1. मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ०–114
2. सम्पादक, अज्ञेय, तार सप्तक, पृ० 124–25

"गोली खकर
एक के मुँह से निकला–
'राम'।
दूसरे के मुँह से निकला–
'माओ'।
लेकिन
तीसरे के मुँह से निकला–
'आलू'।
पोस्टमार्टम की रिपोर्ट है
कि पहले दो के पेट
भरे हुए थे।"[1]

सर्वेश्वर जी ने ग्रामीण जीवन में व्याप्त आर्थिक बदहाली का बहुत ही जीवन्त चित्र खींचा है। भूख, गरीबी और अभाव ग्रामीण जिन्दगियों की एक कड़वी सच्चाई है। जहाँ दो जून की रोटी जुटाने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। 'भुजैनियाँ का पोखरा' नामक कविता में सर्वेश्वर जी ने गरीबी से जूझते हुए ऐसे ही एक परिवार का चित्र खींचा है–

"उसके अधनंगे बच्चे
भाड़ झोंकने के लिए
दिन भर सूखी पत्तियाँ बटोरते हैं
और शाम को मक्के की रोटी
और नरई का साग अगोरते हैं।
साग के पोपले डंठलों में
साँप के बच्चे होने का भय
खाने के साथ एक उदास संगीत–सा
उनके दिलों में बजता रहता है।
अक्सर वे कुछ और खाने की जिद करते
और दूसरों के मुँह से सुनते–
'भुजइन की बिटिया बड़ी छिछिन्नर
भुजिया भात नहीं खाय
एक दिन भुजइन एस एस मरलिस
मकुनी ढकेलले जाय।"[2]

---

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ०–45
2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुआनो नदी, पृ०–47

नागार्जुन वस्तुतः लोक सामान्य जीवन से जुड़े हुए कवि हैं। उनकी कविता का संसार अति सामान्य लोग एवं उनका जीवन है। जिसको अन्य कवियों द्वारा प्रायः उपेक्षित छोड़ दिया जाता है। गँवई प्राकृतिक परिवेश के प्रति उनमें गहरी संशक्ति पायी जाती है। ग्रामीण जीवन में व्याप्त गरीबी, भुखमरी, अकाल, अशिक्षा, बेरोजगारी एवं शोषण पर नागार्जुन जी पैनी दृष्टि रखते है। इन समस्याओं को उनकी कविताओं में मार्मिक एवं सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। 'अकाल और उसके बाद' कविता में अकाल की भयावहता का चित्रण निम्नवत् है–

"कई दिनों तक चूल्हा रोया,चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनकी पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुँआ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखे कई दिनों के बाद।"[1]

उपर्युक्त कविता अकाल की यन्त्रणा की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत करती है। चूल्हा, चक्की, छिपकलियों, चूहों, कौए के अलावा दाने और धुँआ जैसी रोज की जानी–पहचानी मामूली चीजों के द्वारा दो बिरोधी स्थितियों को जिस प्रकार मूर्त किया गया है, वह अपने आप में असाधारण है। चूल्हा और उदास चक्की के पास कानी कुतिया का सोना एक मर्मस्पर्शी क्रिया–व्यापार है जो मन में भावचित्र जगाता है। कविता में अकाल शब्द कही नहीं आया है लेकिन उसकी सारी भयानकता और रागात्मक संबंधों के टूटने जैसी स्थितियाँ मूर्त हो उठी हैं।

नागार्जुन की कविताओं में सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था और बदहाल अर्थव्यवस्था पर चुभता हुआ व्यंग्य पाया जाता है। अपनी 'मास्टर'शीर्षक कविता में शिक्षा–व्यवस्था के साथ स्कूली इमारत की बुनियाद उजागर करते हुए उन्होंने गाँव को जीवंत रूप में रेखांकित किया है। गाँव की खस्ताहाल शिक्षा व्यवस्था पर किया गया व्यंग्य दृष्टव्य है–

---

1. संपादक, नामवर सिंह, नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ०–98

"घुन–खाए शहतीरों पर की बाराखड़ी विधाता बाँचे
कटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट–मिनट में पाँच तमाचे
दुखरन मास्टर गढ़ते रहते किसी तरह आदम के साँचे।"[1]

रघुवीर सहाय नयी कविता के एक प्रमुख कवि है। उनकी कविताऐं हत्या–षडयंत्र–जसूसी के माहौल में भी, मानवीय संबंधों की असंख्य विकृतियों के बीच भी अपनी जिजीविषा और प्रकारान्तर से अपने मानवीय होने में अटल और अक्षत विश्वास रखती हैं। भयंकर तनावों, अभावों और अमानवीकरण की शक्तियों से उनकी कविता जबरदस्त मुठभेड़ करती है। रघुवीर सहाय की कविता के विषय में डॉ0 अशोक बाजपेयी का कहना है– "अपने समय का समाज रघुवीर सहाय का एक बहुत स्पष्ट और लगभग केन्द्रीय सरोकार है। उसमें व्याप्त अत्याचार, गैरबराबरी, परतन्त्रता शोषण और हिंसा की, उसमें बसे ताकत और सत्ता के आतंक का रघुवीर सहाय ने अपनी कविता में लगातार गहरी संवेन शीलता और समझ के साथ, बखान और पड़ताल की है।"[2] रघुवीर सहाय ने अपनी 'अकाल' शीर्षक कविता में 'अकाल' जन्य भूख, अभाव और अमानवीयता का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है–

"फूटकर चलते फिरते छेद
भूमि की पर्त गयी है सूख
औरतें बाँधे हुए उरोज
पोटली के अन्दर है भूख।

× × × × ×

कटोरे के पेंदे में भात
गोद में लेकर बैठा बाप
फर्श पर रखकर अपना पुत्र
खा रहा है उसको चुपचाप।"[3]

---

1. संपादक, नामवर सिंह, नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताऍ, पृ०–98
2. अशोक वाजपेयी, कवि कह गया है, पृ०–103
3. संपादक, सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएँ (काव्य संग्रह, आत्महत्या के विरुद्ध), पृ०–56

उपर्युक्त कविता में अकाल से उत्पन्न भयावह स्थिति का वर्णन है। अकाल के प्रभाव से मनुष्य अमानवीय हो जाता है वह मानवीय मूल्यों प्रेम, करूणा, दया, स्नेह, उदारता को भूलकर किसी भी दुष्कृत्य को अंजाम देने के लिए तैयार रहता है। भूख अभाव दरिद्रता मनुष्य को पाशविक बना देती है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने अपनी कविता 'कुआनों नदी के पार' में भूख, गरीबी, अभाव, बाढ़, आर्थिक विपन्नता से जूझते हुए गाँव के लोगों का मार्मिक चित्र खींचा है। अभाव और आर्थिक बदहाली उन्हें असमय मौत के मुँह में ढकेल देती है—

"मै भागता हूँ और देखता हूँ:
यह खेतिहर मजदूर भूख से मर गया,
यह चौपाये के साथ बाढ़ में बह गया,
यह सरकारी बाग की रखवाली करता था
लू में टपक गया,
यह एक छोटे से रोजगार के सहारे
जिन्दगी काट ले जाना चाहता था
पर जाने क्यों रेल से कट गया।"[1]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 'नयी कविता' के ऐसे कवि हैं जो ग्राम्य जीवन एवं प्रकृति से गहरा लगाव रखते हैं। उनकी कविताओं में जीते–जागते गाँव का जीवन्त चित्रण मिलता है।

मुक्तिबोध 'नयी कविता' युग के एक मार्क्सवादी कवि हैं। उन्होंने बहुत ही सरल शब्दों में हिन्दी भाषी जनता को पूँजीवाद की मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति, संस्कृति पर उसका घातक प्रभाव, पूँजीवाद में शोषण को कानूनी मान्यता प्राप्त होना, शोषण का चक्र, उससे होने वाली पूँजी की वृद्धि द्वारा और व्यापक पैमाने पर शोषण का अवसर प्रस्तुत होना और पूँजीपति–वर्ग का यह खोखला दावा कि वह नए उद्योगों द्वारा राष्ट्र को विकसित और जनता के जीवन को उन्नत बना रहा है। इन तमाम बातों के पीछे छुपी सच्चाई का खुलासा किया। "नई कविता के विरूद्ध मुक्तिबोध ने जो संघर्ष चलाया, उसकी विशेषता यह है कि उनहोंने निम्न–मध्य वर्गीय आधार वाली नई कविता को तो अपना समर्थन दिया ही, जो

---

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुआनों नदी, पृ०–24

उच्च–मध्यवर्गीय आधार वाली नई कविता थी, उसे भी खारिज नहीं किया। उन्हें पता था कि उस कविता में भी एक सामाजिक यथार्थ प्रकट हो रहा है... भ्रष्टाचार, अनाचार, तंगी, कलह, राग–द्वेष, दाँव–पेंच के दृश्य सर्वत्र दिखायी दे रहे थे..........ऐसी स्थिति में भारतीय कवि की कविता में उदासी और और विफलता, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण स्वाभाविक था।"[1]

मुक्तिबोध ने अपनी कविता 'मुझे याद आते हैं' में पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण कारी रूप को उजागर करते हुए गरीबी और बदहाली का दंश झेलने वाले किसानों मजदूरों का मार्मिक चित्र खींचा है–

"संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के
अन्दर का वासी वह नग्न अति बर्बर देह
सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे दीखता है
× × × × × ×
शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार
बनी हुई संस्कृति के तिलिस्मी
सियाह चक्रव्यूहों में
फँसे हुए प्राण सब मुझे याद आते हैः
मर्माहत कातर पुकार सुन पड़ती है
× × × × × ×
मजदूरी करती है
घर की गिरस्ती के लिए ही
पुत्रों के भविष्य के लिए सब।"[2]

धूमिल ने अपनी 'पतझड़'शीर्षक कविता में देश में व्याप्त बेकारी की समस्या पर चुभता हुआ व्यंग्य किया है। रोजगार की तलाश में भटकती युवा पीढ़ी के दर्द को कवि ने मुहावरेदार भाषा में कुछ इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है–

"मैंने रोजगार 'दफ्तर से गुजरते हुए–नौजवान को
यह साफ–साफ कहते सुना है–
'इस देश की मिट्टी में
अपने जाँगर का सुख तलाशना
अन्धी लड़की की आँखों में

---

1. नंद किशोर नवल, ज्ञान और संवेदना, पृ०–113
2. गजानन माधव मुक्तिबोध, चॉद का मुँह टेढ़ा है, पृ० 96–97

उससे सहवास का सुख तलाशना है।"[1]

ठेठ ग्रामीण परिवेश से जुड़े शब्द 'जाँगर' का प्रयोग करके धूमिल ने बेरोजगारी की समस्या को उजागर किया है।

नयी कविता में एक तरफ जहाँ नगरीय जीवन की चकाचौध भरी जिन्दगी का चित्रण मिलता है, वहीं गाँव में दो जून की रोटी के लिए संघर्ष करते किसानों एवं मजदूरों की शोचनीय दशा की भी अभिव्यक्ति मिलती है। अकाल, भुखमरी, बाढ़ एवं शोषण जैसी समस्याओं से सम्पूर्ण ग्रामीण परिवेश बोझिल दिखायी पड़ता है। नयी कविता में मध्यवर्गीय जीवन की मार्मिकता को सर्वाधिक उजागर किया गया है यद्यपि पूँजीपतियों एवं साहूकारों के प्रति क्षोभ एवं आक्रोश भी कम नहीं दिखायी पड़ता। इन सब के बावजूद भी मानवीय सम्बन्धों में व्याप्त गहरा आत्मीय भाव हमें 'नयी कविता' दौर की ग्राम्य चेतना से युक्त कविताओं में देखने को मिलता है।

(V) सांस्कृतिक :

संस्कृति मनुष्य की वह रचना है, जिसमें मानव की सृजनात्मक शक्ति और योग्यता का चरम निहित है। संस्कृति में मनुष्य समाज के इतिहास की विकास कड़ियों के सूत्र दर्ज हैं। संस्कृति जीवन और उसकी क्रिया–प्रतिक्रियाओं का संचय है। संस्कृति अपने पूर्वजों द्वारा ग्रहण की गयी वह जीवन शैली है, जो मनुष्य को जीवन जीने की उच्च भाव–भूमि प्रदान करती है। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होने वाला 'संस्कृति' शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। "सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर 'संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। सामान्यतः इसका अर्थ है भूषण–भूत सम्यक् कृति, सुधरी हुई स्थिति, उत्तम कार्य, आचरणगत परम्परा आदि।"[2] प्रामणिक हिन्दी कोश के अनुसार संस्कृति' शब्द का अर्थ– "संस्कृति स्त्री0 (सं0) (1) शुद्धि, सफाई। (2) संस्कार, सुधार। (3) किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सब बातें जो उसके मन, रूचि,

---

1. धूमिल, संसद से सड़क तक, पृ०–60
2. शोभा सत्यदेव, अभिनव सत्यदेव, भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ०–1

आचार, विचार, कला—कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती हैं।"[1] डॉ0 ए0 एन0 ह्वाइटहैड के शब्दों में "संस्कृति विचार तथा सुन्दरता एवं मानवीय भावों की ग्राह्यता की क्रिया है।"[2] सम्पूर्णानन्द का कथन है कि— "निरन्तर प्रगतिशील मानव—जीवन प्रकृति और मानव समाज के जिन—जिन असंख्य प्रभावों व संस्कारों से संस्कृत व प्रभावित होता है, उन सबके सामूहिक पदार्थ को ही 'संस्कृति' कहा जाता है।"[3] वासुदेवशरण अग्रवाल ने संस्कृति' के अर्थ की विशद विवेचना की है। उनका विचार है कि— "संस्कृति का अर्थ है— संस्कार सम्पन्न जीवन। ये संस्कार मन, कर्म और बचन के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।.........मानव अपने मन से, कर्म से, और शब्द से जो कुछ अब तक रच सका है, वह सब उसकी संस्कृति है। संस्कृति की रचना भूत, भविष्य और वर्तमान में जारी रहने वाला एक निरन्तर सत्र है। सब कुछ उसकी संस्कार सम्पन्नता का नमूना है।"[4] इस आधार पर संस्कृति समस्त कालों के समाज एवं सभ्यता की ऐसी संचित निधि है जो परिष्कार द्वारा निरन्तर प्रगति करती हुई अथवा एक पीढी से दूसरी पीढी को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होती रहती हैं।

मानवीय कृतियाँ ही संस्कृति का स्वरूप बनाती हैं मनुष्य की कृति, भाव, विचार, धारणाओं का संगठन होती है। संस्कृति मनुष्य की सम्यक् कृति है, सम्यक् यानी सुविचारित। विचार भी जीवन का, चरित्र का, आचरण का व्यवहार का, अभिव्यक्ति का, काव्य का, संगीत का, कला का, समाज का देश का, विश्व का जो कुछ भी चरम हो वह सब संस्कृति के अन्दर समाहित है। बसन्त निरगुणे के अनुसार "संस्कृति का शाब्दिक अर्थ संस्कारों की सम्यक् कृति के रूप में है। सम्यक् कृति सिर्फ मानवीकृत हो सकती है।"[5] डॉ0 रामधारी सिंह

---

1. सम्पादक— आचार्य रामचन्द्र वर्मा, प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ०—814
2. डॉ० भुवनेश्वर सिंह गहलौत एवं डॉ० दीपा अग्रवाल, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और दर्शन, पृ०—1
3. शोभा सत्यदेव, अभिनव सत्यदेव, भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ०—2
4. वही, पृ० 2—3
5. बसन्त निरगुणे, लोक संस्कृति, पृ०—7

दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में संस्कृति की बड़ी मार्मिक एवं सरल परिभाषा देते हुए लखा है– ''असल में संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।.........संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना एवं विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है यही नहीं अपितु संस्कृति हमारा पीछा जन्म–जन्मान्तरों तक करती है। अपने यहाँ एक साधारण कहावत है कि 'जिसका जैसा संस्कार होता है वैसा उसका पुनर्जन्म भी होता है।'....... संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं आत्मा का गुण हैं।''[1]

नयी कविता दौर के कवियों में यदि हम अज्ञेय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालें तो उन्हें हम संस्कृति पुरूष कह सकते हैं। उनके सम्पूर्ण जीवन की साधना वास्तव में संस्कृति की ही साधना है। अज्ञेय की संस्कृति चेतना के तीन आयाम है, उनका चिन्तन, उनका सृजन एवं उनका जीवन। अज्ञेय का मानना है कि ''संस्कृति मूलतः एक मूल्य–दृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता प्रभावों का नाम है– उन सभी निर्माता प्रभावों का, जो समाज को, व्यक्ति को परिवार को, सबके आपसी सम्बन्धों को श्रम और सम्पत्ति के विभाजन और उपयोग को निरूपित और निर्धारित करते हैं।''[2] अज्ञेय ने 'हमारा देश' शीर्षक कविता में परम्परागत तथा सहज जीवन शैली से युक्त ग्राम्य संस्कृति का सुन्दर चित्र खींचा है तथा उस पर पड़ने वाले शहरी सभ्यताजन्य अपसंस्कृति के दुष्प्रभावों की ओर भी संकेत किया है। काव्य पंक्तियाँ निम्नवत् हैं–

''इन्ही तृण–फूस–छप्पर से
ढँके ढुलमुल गँवारू
झोंपड़ों में ही हमारा देश बसता है।
इन्ही के ढोल–मादल–बाँसुरी के
उमँगते सुर में

---

1. डॉ० भुवनेश्वर सिंह गहलौत एवं डॉ० दीपा अग्रवाल, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और दर्शन, पृ०–2
2. रामकमल राय, अज्ञेय : सृजन की समग्रता, पृ०–119

हमारी साधना का रस बरसता है।
इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप डँसता है
इन्हीं में लहराती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत हँसता है।"[1]

संस्कृति को हम यदि बृहत्तर जीवन–प्रक्रिया,सृजनात्मक व्यवहार और मानवीय मूल्य की समग्रता में ग्रहण करते हैं, तो उसमें भावाभिव्यक्ति के विभिन्न रूप, यानी ललित कलाएँ, स्थापत्य आदि उपयोगी कलाएँ, ज्ञान और विज्ञान का सम्पूर्ण चिंतन तथा सामाजिक रूचि और अभ्यास के विषय, सभी आ जाते हैं। सीमित अर्थ में काव्य–संगीत'चित्र आदि कलाएँ समूची संस्कृति का पर्याय नहीं हो सकती। बेशक, कलाएँ संस्कृति का अत्यंत महत्वपूर्ण उपादान हैं, क्योंकि उसमें किसी समाज की सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ मूर्तिमान होती हैं और बहुधा सामाजिक, राजनीतिक जीवन मिट जाने के बाद किसी प्राचीन सभ्यता की जानकारी के लिए कलाएँ ही आधार–सामग्री देती हैं। जैसे प्राक्मानव और पुरामानव के जीवन और विश्वासों को जानने का एक बड़ा स्रोत गुफाओं के भित्ति–चित्र हैं। "संस्कृति के निर्माण में प्राकृतिक पर्यावरण की प्रचंड भूमिका होती है। भारतीय सभ्यता जिस भूखण्ड पर विकसित हुई वह प्रचण्ड प्रचुर प्राकृतिक संपदा से युक्त है। ऐसे में स्वभावतः प्रकृति से मनुष्य का नाता यांत्रिक न होकर भावनात्मक हुआ। इसी कारण से भारतीय संस्कृति में प्रकृति ईश्वर का पर्याय और भूमि जननी का गौरव पा सकी है। स्पष्टतः इस संस्कृति मे परंपरागत रूप से यंत्रवाद पुष्पित–पल्लवित नहीं हो सकता था।"[2] अज्ञेय की एक कविता 'बन्धु हैं नदियाँ' में प्रकृति, नदियों एवं मानव के प्रति कुछ ऐसा ही भावनात्मक जुड़ाव अभिव्यक्त हुआ है:

---

1. अज्ञेय, सदानीरा : सम्पूर्ण कविताएँ, भाग–1 (काव्य संकलन, हरी घास पर क्षण भर), पृ० 242–43
2. संपादक, सुभाष सेतिया, आजकल (साहित्य एवं संस्कृति का मासिक, फरवरी, 2001), पृ०–10

"बन्धु हैं नदियाँ : प्रकृति भी बन्धु है
और क्या जाने, कदाचित्
बन्धु
मानव भी!"[1]

अज्ञेय ज़ी ने मिथकों के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है– "मिथक एक आदिम शक्ति का स्रोत है। कभी वह धर्म और मत–सम्प्रदाय के काम में आता रहा और धर्म में आस्था न रहने पर भी संस्कृति के, समाज के और व्यक्ति के काम आ सकता है" यह भी कि मिथक की सत्ता का और मिथक के निरन्तर नया होकर सामने आने का कारण यह भी है, कि संस्कृतियाँ उसके सहारे अपना नवीनीकरण करती चलती हैं।"[2] उनकी एक कविता 'असाध्यवीणा' मिथक न होते हुए भी मिथक सरीखा प्रभाव छोड़ती है। यह एक जापानी कथा पर आधारित है उस कथा का अभिप्राय अलग–अलग संस्कृतियों के वृत्तों का अतिक्रमण करने वाला, सार्वभौमिक, सर्वव्यापी अभिप्राय है। जिसमें प्राकृतिक परिवेश से आच्छादित ग्राम्य संस्कृति का जीवंत चित्र कवि ने खींचा है। एक झलक दृष्टव्य है–

"बदली–कौंध–पत्तियों पर वर्षा–बूँदों की पट–पट।
घनी रात में महुए का चुप–चाप टपकना।
चौंके खग–शावक की चिहुँक।
शिलाओं को दुलराते वन झरने के
द्रुत लहरीले जल का कल–निनाद।
कुहरे में छन कर आती
पर्वती गाँव के उत्सव ढोलक की थाप।
गड़रियों की अनमनी बाँसुरी।
कठफोड़े का का ठेका। फुलसुँघनी की आतुर फुरकन:
ओस बूँद की ढरकन–इतनी कोमल,तरल कि झरते–झरते मानों
हरसिंगार का फूल बन गयी।"[3]

---

1. अज्ञेय, सदानीरा, सम्पूर्ण कविताएँ, भाग–1 (काव्य संकलन हरी घास पर क्षण भर), पृ०–245
2. सम्पादक, रमेशचन्द्र शाह, 'असाध्यवीणा' और अज्ञेय, पृ०–28
3. अज्ञेय, सदानीरा, सम्पूर्ण कविताएँ, भाग–2 (काव्य संकलन) आंगन के पार द्वार), पृ०–119

अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' नयी कविता आन्दोलन की विशिष्ट उपलब्धि है। यह हिन्दी की प्रबन्ध–कविताओं में प्रसाद की 'प्रलय की छाया' और निराला की 'राम की शक्तिपूजा के बाद एक उल्लेखनीय प्रयत्न है। 'असाध्यवीणा' कविता में विशिष्ट आस्तिक प्रज्ञा को वाणी मिली है। यह एक विशेष अर्थ में नवरहस्यवाद के समर्थ उभार का उदाहरण है। कवि ने 'असाध्यवीणा' मे आस्था का अधिवास रचा है। इसमें अतिश्योक्ति नहीं है कि अपने युग की सांस्कृतिक एवं कलात्मक निस्पन्दता को यह कविता गहरे रचनात्मक स्तर पर झकझोर देने में सफल रही है।

मुक्तिबोध 'नयी कविता' से जुड़े हुए एक सशक्त कवि हैं उनका मानना है कि "काव्यरचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं। यह ध्यान देने की बात है कि नयी कविता वर्तमान ह्रासग्रस्त, अधः पतनशील सभ्यता की असलियत को जब तक पहचानती नहीं है........जब तक उसमें शोषित और उत्पीड़ित मुखों के बिम्ब दिखायी नहीं देते, उनके हृदयों का आलोक नहीं दिखायी देता तब तक सचमुच हमारा कार्य अधूरा रहेगा।"[1]

"संस्कृति के आदिम और मूल स्रोतों में, लोकसंस्कृति में भी, हम कलारूपों के अलावा रहन–सहन के तरीके, आचार–व्यवहार–विश्वास आदि के संश्लिश्ट रूप की समग्रता पाते हैं। संस्कृति इसी समग्रता की द्योतक है, "कला 'जिसका एक अंश है। स्वभावतः संस्कृति एक व्यापक अधारणा है।..........संस्कृति एक युग और समाज के ढाँचें को अभिव्यक्त करती है, जबकि कला उस ढाँचें की विशिष्ट स्थितियों को" ।[2] मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' में ग्राम्य संस्कृति में व्याप्त लोक विश्वास, धार्मिक परम्पराओं, एवं गाँव के सूने सघन प्राकृतिक परिवेश मे भूत–प्रेतों की उपस्थिति का आदिम विश्वास पूरी जीवन्तता के साथ व्यक्त हुआ है। 'ब्रह्मराक्षस' एक संश्लिष्ट रचना है। इसमें प्राचीन और नवीन

---

1. मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्यनिबंध, पृ०–19
2. संपादक, रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय, संस्कृति एवं व्यावसायिकता, पृ०–41

परम्परा और आधुनिकता पर भी विचार हुआ है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

"शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अँधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
उस पुरानें घिरे पानी में........
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी है।
बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं
खड़े हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुघुओं के घोसलें
परित्यक्त, भूरे, गोल
विगत शत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बसकर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके–सी लगी रहती"[1]

नागार्जुन मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित कवि हैं। उनकी काव्य–चेतना राजनीति के आँचलिक स्वरूप को जिस सफाई से आत्मसात करती है, उसी सफाई से उसके विश्व परिदृश्य को भी। वे सामाजिक–सांस्कृतिक–राजनीतिक परिवर्तन के विधिस्तरीय प्रयासों से जुड़े हुए कवि हैं। नागार्जुन निराला जैसे ही नैसर्गिक प्रतिभा के कवि हैं। जिस तरह निराला की कविता में अवध की संस्कृति बड़े शालीन ढंग से व्यक्त हुई है, उसी तरह नागार्जुन की कविता में मिथिलांचल की संस्कृति। दूसरें शब्दों में कहें तो

---

1. मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ०–37

नागार्जुन की कविता में उनका जनपद स्पष्ट आकार लेता है 'सिन्दूर तिलकित भाल' कविता में नागार्जुन लिखते हैं–

"घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल
याद आता तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाल।
x x x x x x x
याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति–विहंगम की कभी न थकने देगी पाँख
याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रूचिर भूभाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनी और तालमखन
याद आते श्स्य–श्यामल जनपदों के
रूप–गुण–अनुसार ही रक्खें गये वे नाम
याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय, अति अभिराम।"[1]

लीचियाँ, आम, धान, कमल, कुमुदिनी, तालमखान, वेणुवन मिलकर मिथिला की ग्रामीण संस्कृति को साजीव कर देते हैं। नागार्जुन हमेशा बाहर–बाहर रहने वाले यायावर कवि रहें हैं। उन्होंने मैथिली में वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' के नाम से कविताएँ लिखी हैं। नागार्जुन एक पल के लिए भी अपना गाँव 'तरउनी' नहीं भूल सके। उनके स्मृति–विहंगम के पंख कभी थके नहीं।

नागार्जुन के काव्य का एक बृहत्तर सांस्कृतिक संदर्भ भी है जो उनके स्थायी महत्व का आधार है उनकी राजनीतिक कविताओं की तरह सांस्कृतिक विषय की कविताएँ भी समय के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के बैरोमीटर हैं, ये कविताएँ मानवीय चेतना, मानव के रागात्मक सम्बन्धों, उसके आचार–विचार, बदलते रिश्ते, धर्म'दर्शन और तमाम बाहर–भीतरी क्रियाकलापों की माप करती हैं। उनमें मानव–जीवन और संस्कृति के शाश्क्त सवाल उठाए गए हैं।'शरद पूर्णिमा' शीर्षक कविता में श्रम और पकी फसल के चित्रण द्वारा नागार्जुन ने किसान जीवन और उसकी खुशियों को जीवंत अभिव्यक्ति दी है–

---

1. संपादक, नामवर सिंह, नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ० 28–29

"सूझ–सने श्रम के सीकर सूखते गये, मुसकाया जीवन
पके धान की कनक मंजरी एक नहीं, सौ बनी झालरें
उड़द–मूँग की फलियों वाली बेलों की बिछ गई चादरें
चौकस खेतिहरों ने पाये ऋद्धि–सिद्ध के आकुल चुम्बन।"[1]

नागार्जुन के काव्य क्षेत्र के विस्तार को हम सामान्यतः ग्राम्य जीवन की दैनिक गतिविधियों, हल–बैल, फसलगीत, श्रमगीत खेत–खलिहान, बाग–बगीचे, नदी तालाब आदि की सीमाओं में समेट सकते हैं जनकवि होने के नाते नागार्जुन जनसंस्कृति का चित्रण करते हैं।

नयी कविता के एक प्रमुख कवि नरेश मेहता ने 'दूसरा सत्तक' में दी गयी अनी कविताओं के वक्तव्य में संस्कृति के बारे में लिखा है : "संस्कृति भ्रामक शब्द है। फिर भी संस्कृति की शोध तो की ही जा सकती है और हम मनुष्य के आदि–काल के काव्य से भावों की विराटता ग्रहण कर के सुन्दर कल्प प्रधान साहित्य रच सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में उदाहरण रूप में मेरी 'उषस्' है। ऋतु की इस नित्य–कौमार्य कन्या का मैं प्रतिदिन अपने क्षितिज पर आह्वान करता हूँ। वह हमारे खेतों में अपने पति सूर्य के साथ हमारे बीजों में अपनी गरम–गरम किरने बो कर गेहूँ उपजाती है।"[2]

प्रकृति के झरोखे से संस्कृति की पहचान और शोधपरक प्रवृत्ति नरेश जी के व्यक्तित्व की विशेषता है। समस्त आर्षसाहित्य के गहरे ज्ञाता और भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम गायकों में नरेश जी का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल उद्गमों को ढूढने, उसमें बीच–बीच में आई विकृतियों और दोषों को पहचानने और उनसे बचने के साथ–साथ संस्कृति के उदात्तीकरण का जो एक विराट कवि सुलभ प्रयास किया वह हर दृष्टि से श्लाघनीय है। वृक्ष को तो हम रोज ही देखते हैं। पौधे का अंकुरण विकास, और उसमें फल का लगना सभी कुछ तो हमारी आँखों के सामने घटित होता है,

---

1. नागार्जुन, प्यासी पथराई ऑखें, पृ०–42
2. सम्पादक, अज्ञेय, दूसरा सप्तक, पृ०–111

किन्तु जिस बोध से वृक्ष नरेश मेहता की चेतना को मण्डित कर देता है वह अपने आप में अनुपम है।

"अपने में से फूल को जन्म देना
कितना उदात्त होता है
यह केवल वृक्ष जानता है,
और फल–
वह तो जन्म–जन्मान्तरों के पुण्यों का फल है।"[1]

नरेश मेहता जी की कविताएँ सृष्टि की सारी सृजित वस्तुओं का एक महान–कुम्भ हैं और वह आधुनिक भारतीय कविताओं में न केवल देवदार का व्यक्तित्व ही रखती हैं बल्कि हमारे जीवन के ताण्डव का रक्त–लास्य भी हैं। उनकी कविताएँ वैदिक प्रकृति की उदात्तता,उपनिषदीय प्रज्ञा तथा वैष्णवी पावनता से युक्त हैं। हमें कवि के साथ यात्रा करनी होगी, बस–

"खेतों में
कंडे पाथते हुए कैसा उत्सव लगता है।
चन्दन की मुठिया से लेकर गोबर के कंडों तक
यह जीवन की कैसी गान्धर्व–वीणा बज रही है?
हमारे लिए मनुष्य मात्र
हमारे लिए गन्ध मात्र
हमारे लिए रंग मात्र–
वेद–पाठ है
यज्ञ–ध्वनि है
उत्सव–गान है।
कभी अपनी वैयक्तिकता को
इतनी विशाल स्वरलिपि में बजने दो बन्धु।"[2]

नरेश जी की कविताओं में उपर्युक्त काव्य पंक्तियों की भाँति सम्पूर्ण प्रकृति एवं मानवीय कृत्यों के प्रति गहरा राग, उत्सवता एवं पूजा भावना पायी जाती है। नरेश मेहता फूल को एक मंत्र के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं–

"धरती को कहीं से छुओं
एक ऋचा की प्रतीति होती है।

---

1. नरेश मेहता, उत्सवा, पृ०–31
2. वही, पृ०–58

देवदारूओं की देह–यष्टि
क्या उपनिषदीय नहीं लगती
तुम्हें नहीं लगता कि
इन भोजपत्रों में
एक वैदिकता है।"[1]

नरेश मेहता की काव्य–यात्रा के विषय में रामकमल राय का कहना है कि : "प्रकृति को अपनी पूरी सांस्कृतिक अनुभूति का अविभाज्य अंश बनाकर ग्रहण करना और उसे उसी में अभिव्यक्ति देना नरेश मेहता की प्रकृति–दृष्टि की सबसे केन्द्रीय प्रवृत्ति है। इसमें भले ही कही–कहीं प्रकृति के साथ बलात् तादात्म्य करने का भाव दिखे, परन्तु मूलतः यह दृष्टि एक आर्ष–व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण रचनात्मक परिणति का साक्ष्य प्रस्तुत करती है।"[2]

नरेश मेहता ने अपने खण्ड काव्यों की रचना मिथकीय आधार पर की है। 'संशय की एक रात; 'महाप्रस्थान, ''शबरी; और 'प्रवाद पर्व' सभी खण्ड काव्यों में मिथक का आधार लिया गया है मिथक किसी जाति की संस्कृति के गहरे स्रोत होते हैं। 'संशय की एक रात' एक गहरी मानवीय चिन्ता से ग्रस्त मन का संशय प्रस्तुत करता है। राम जो भारतीय संस्कृति के मेरूदण्ड बन चुके हैं वे भी गम्भीर चिन्ता और अन्तर्द्वन्द से जूझ रहे हैं–

"ओ भाद्रपदी वृष्टि!
आद्यन्त भीग उठने दो।
सम्भव है
तुम्हारे इन देवजलों से
यह संशयाग्नि शान्त हो सके
सम्भव है।
एक
अनुत्तरित संशय का सर्पवृक्ष
हरहरा रहा मुझमें
पीपल सा
अहोरात्र।"[3]

---

1. नरेश मेहता, उत्सवा, पृ०–50
2. रामकमल राय, नरेश मेहता, कविता की ऊर्ध्वयात्रा, पृ०–73
3. श्री नरेश मेहता, संशय की एक रात, पृ०–30

'प्रवाद पर्व' नरेश जी की प्रबन्धात्मक कृति है। इसमें वैयक्तिकता से निर्वैयक्तिकता तथा राजतन्त्र से प्रजातन्त्र की मान्यता का प्रस्तुतीकरण है इस कृति में राज्य के एकाधिकारी भोग की प्रवृत्ति का तिरस्कार तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य की स्थापना की गई है काव्यात्मक वैराट्य सिर्फ मनुष्य में पाया जाता है। मनुष्य के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि अपने को अभिव्यक्त करती है। ऐसी नैसर्गिक मानवीय भाव दशा हमारी आर्य संस्कृति एवं पौराणिक ग्रन्थों से हमें विरासत में मिली हुई है, जिसको वैसी ही चन्दनगंधी वानस्पतिकता प्रदान कर नरेश जी ने आधुनिक मानवीय संस्कृति पर लेपित किया है–

"यह धूप का महोत्सव
दाक्षिणात्य चंदनगंधी हवाएं
गन्धमादन की पुष्पीय विपुलता
वानस्पतिकता का उदार
विपुल परिवार
आकाश–गंगा से लेकर
ग्राम्य–गंगा तक ही यह
सम्पूर्ण विराट–विनम्र
सृष्टि
किसके माध्यम से बोलती है लक्ष्मण?
कौन है सृष्टि की बाँशी–भाषा?
बन्धु!
मनुष्य,
एक मात्र मनुष्य ही
सृष्टि की जिह्वा है।"[1]

'दूसरा सप्तक' में सम्मिलित नयी कविता के प्रमुख कवि भवानी प्रसाद मिश्र की समस्त कविताई लोक–जीवन की भावभूमि पर फैलती–पनपती रही है। लोक–जीवन के खुलेपन ने ही, जिन अनुभवों का साक्षात्कार किया उनकी सहज अभिव्यक्ति करने में उन्हें कभी संकोच नहीं हुआ। नदी के बहाव की भाँति उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का कोई बना–बनाया ढर्रा कभी नहीं अपनाया। भारतीय संस्कृति की आस्थावादी दृष्टि में, वे दुःख को आनन्द और 'सुबह से

1. श्री नरेश मेहता, प्रवाद पर्व, पृ०–51

मन के रंग, रात से लेकर मन के छन्द' गुनगुनाना चाहते हैं। ''भारतवर्ष की सामासिक संस्कृति और प्रकृति–पूजा को, भवानी प्रसाद मिश्र की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता–धारा में, इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ समझना होगा। आप देखेंगे कि वे प्रसाद जी की भाँति पोर–पोर डूबे सांस्कृतिक मानस के कवि है। नयी कविता के कवि मुक्तिबोध मानों उन्हें ध्यान में धरकर कह रहे हों कि कविता एक सांस्कृतिक–प्रक्रिया होती है।''[1] भवानी प्रसाद मिश्र जी की कविता 'सतपुड़ा के जंगल' एक प्रकार से एक ऐसा प्रतीक है जो मिश्र जी के व्यक्तित्व–कृतित्व में इतिहास, भूगोल के साथ जीवित है। कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं–

''सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से,
ऊँघते अनमने जंगल।
झाड़ ऊँचे और नीचे,
चुप खड़े हैं आँख मींचे
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है।
बन सके तो धँसों इन में,
धँस न पाती हवा जिन में,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।''[2]

इस कविता का विशेष सन्दर्भ कवि के शैशव के समाज, इतिहास एवं संस्कृति से जुड़ता है। इस कविता के शब्द–शब्द से अर्थापत्त–प्रक्रियाएँ घटती हैं। अतः ये शब्द की अर्थापत्त–प्रक्रियाएँ 'भौगोलिक एवं सांस्कृतिक रूपों का संगम; 'नदी–निर्झर और नाले इन बनो ने गोद पाले' से बनती है। हरित दुर्वा, रक्त किसलय, पूत–पावन, पूर्ण रसमय सतपुड़ा का जंगल उनके भीतर मौजूद है।

''सन्नाटा' भवानी प्रसाद मिश्र की सहजतम बोध की नयी कविता है। इस कविता में राजा और रानी की कहानी के माध्यम से झाड़–झंखाड़ों, इमली'

1. कृष्णदत्त पालीवाल, भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य संसार, पृ०–67
2. सम्पादक, अज्ञेय, दूसरा सप्तक, पृ०–23

पीपल के पेड़ों और घने अंधकार की तहों में ग्राम्य–संस्कृति में व्याप्त जनश्रुतियों पर आधारित एक आख्यान प्रस्तुत किया गया है–

"मै सूने में रहता हूँ–ऐसा सूना–
ऊगा होता है जहाँ घास भी ऊना :
होते है झाड़ कहीं इमली, पीपल के,
घन अन्धकार होता है जिनसे दूना।

x x x x x x

यहाँ बहुत दिन हुए, एक थी रानी,
इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी;
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी
थी उसकी केवल एक यही नादानी।
यह घाट नदी का अब जो टूट गया है
वह यहाँ बैठकर रोज–रोज गाता था,
अब यहाँ बैठना उसका छूट गया है।
जब साँझ हुए रानी खिड़की पर आती
थी पागल के गीतों को वह दुहराती;
तब पागल गाता और बजाता बंसी
रानी उसकी बंसी पर छुप कर गाती।"[1]

यहाँ 'सन्नाटा' कविता में नयी कविता की समस्त विशिष्टताओं का अर्थ–विन्यास एक साथ दृष्टिगोचर होता है। कविता बहुत साधारण ढंग से शुरु होती है। कथा कहानी से पाठक को आत्मीय बनाती है। पूरी कविता में मानवीकरण का इतना हृदयस्पर्शी विस्तार है कि सन्नाटा हमारे भीतर चलने–बोलने लगता है। झाड़, इमली, पीपल के घने अन्धकारमय प्रतीक स्थिति की वास्तविकता का भरोसा कराते हैं। जनश्रुतियाँ एवं लोकविश्वास हमारी ग्राम्य–संस्कृति की प्रमुख विशेषता हैं।

डरावने अन्ध–विश्वासों के साथ–साथ कुछ हर्षोल्लास को जन्म देने वाले लोक विश्वास भी ग्राम्य–संस्कृति में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षर केदारनाथ सिंह की तीसरा सप्तक में संकलित कविता 'धानों का गीत' में खेतों में धान उगें इसके लिए बादल के आगमन की

1. सम्पादक, अज्ञेय, दूसरा सप्तक, पृ० 26–27

मनौती कर सूरज, चाँद, तुलसी आदि की भी वन्दना की गयी है। कृषि प्रधान ग्रामीण संस्कृति में कृषक बालाओं के द्वारा गाया जाने वाला धानों का गीत इस संदर्भ में कितना सार्थक है–

"धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे
उगेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल जरूर।
चन्दा को बाँधेंगे कच्ची कलगियों
सूरज को सूखी रेत में
आना जी बादल जरूर!

× × × ×

धूप ढरे तुलसी–बन झरेंगे,
साँझ घिरे पर कनेर,
पूजा की बेला में ज्वार झरेंगे
धान–दिये की बेर,
आना जी बादल जरूर।"[1]

ग्राम्य संस्कृति में लोक विश्वास का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। ग्राम्य जीवन लोक विश्वासों, धारणाओं तथा मान्यताओं से अनुप्राणित होता रहता है। जन्म, विवाह, ऋतुचर्या, मरणोत्तर जीवन, ईश्वर, आत्मा, ग्रह–नक्षत्र, भूत–प्रेत आदि के प्रति विश्वासों तथा धारणाओं से ग्राम्य संस्कृति समृद्ध रहती है। इन्ही परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं एवं आस्थाओं तथा ग्राम्य जीवन में व्याप्त उत्सव–महोत्सवों को नयी कविता में जीवन्त अभिव्यक्ति मिली है। नयी कविता के कवियों ने हमारी गौरवमयी सांस्कृतिक परम्परा से पौराणिक प्रतीकों तथा मिथक काव्यों का सृजन कर वर्तमान समय की जटिल जीवन स्थितियों से जूझने का प्रयास किया है तथा जीवन मूल्यों में गहरी आस्था को अभिव्यक्ति दी है।

यद्यपि बढ़ते हुए शहरीकरण एवं महानगरीय संस्कृति ने सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता एवं साहित्य को गहरे स्तर पर प्रभावित एवं परिवर्तित करना शुरु कर दिया है, फिर भी नयी कविता की मूल संवेदना गाँव से जुड़ी हुई है एक तरफ जहाँ महानगरीय सभ्यता में विज्ञान एवं तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप

---

1. सम्पादक, अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृ० 127–28

अतिशय व्यावसायिकता, जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा ने मानवीय सम्बन्धों को यान्त्रिक एवं संवेदनाहीन बना दिया है, वही दूसरी तरफ गांवों में आज भी मानवीय सम्बन्धों में गहरी रागात्मकता एवं आत्मीयता का मिलना आशा की किरण है। जो मानव जीवन में आशावादी दृष्टिकोण जागृत करती है। नयी कविता ग्रामीण परिवेश और सामान्य जन से जुड़ी हुई कविता है। नयी कविता ने ग्रामीण परिवेश की समस्याओं, रीति–रिवाजों संस्कारों, अंधविश्वासों, लोक विश्वासों, जनपदीय परम्पराओं एवं आंचलिक चेतना को जीवंत रूप में अभिव्यक्त किया है। नयी कविता में ग्राम्य–परिवेश अपने सम्पूर्ण आयामों में चित्रित हुआ है। ग्रामीण समाज में व्याप्त गरीबी, भुखमरी अकाल, बाढ़, भ्रष्टाचार, साहूकारों तथा पूँजीपतियों का शोषण ग्रामीण जनों की जिन्दगी को और भी कठिन तथा त्रासद बना देता है फिर भी हमारी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परायें धार्मिक विश्वास तथा जीवन में गहरी आस्था उन्हें सभी चुनौतियों से लड़ने की ताकत प्रदान करती हैं। नयी कविता के कवियों ने फैक्टरियों की दानवाकार चिमनियों के धुँए की दुर्गंध और पिछड़े हुए अंचलों तथा गाँवों की धरती की गन्ध को एक साथ रूपायित किया है। गाँवों की प्राकृतिक छवियों का सम्मोहन भी नयी कविता के रचनाकारों के लिए कम आकर्षक नहीं रहा है। ग्रामीण जीवन के हर्षोल्लास, विसंगतियों, विद्रूपताओं और विचित्रताओं को भी काव्य संदर्भो में संजोकर इन कवियों ने अपनी जागरूक रचना–धर्मिता का प्रभूत परिचय दिया है।

□□□□□